संचिता

ठाकुर गोपालशरणसिंह

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९३९

मूल्य २।)

दो शब्द

'माधवी' के पहले की मेरी बहुत कम रचनायें अभी तक पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई हैं। इसलिए उन कविताओं का एक अलग संग्रह निकालने का मेरा इरादा था। परन्तु बाद में विचार करने से यह प्रतीत हुआ कि यदि इस पुस्तक में मेरी सब समय की रचनायें संगृहीत कर दी जायँ तो पाठकों को मेरी कविता की गति-विधि समझने में सुविधा होगी। अस्तु, संचिता उनके सम्मुख उपस्थित है। यह कैसी है इसका निर्णय वे ही कर सकते हैं।

इस संग्रह में सन् १९१४ से लेकर १९३९ तक की मेरी सब प्रकार की रचनाओं का समावेश है। प्रत्येक कविता का रचना-काल दे दिया गया है।

पुण्यस्मृति श्रद्धेय पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की मुझ पर सदैव कृपा रही है और कविता लिखने के लिए वे मुझे बराबर प्रोत्साहित करते रहे हैं। यदि उनका करावलम्ब न मिलता तो मैं अधिक दिन तक कवि-कर्म में प्रवृत्त रह सकता या नहीं इसमें सन्देह है। मेरे प्रारम्भिक कविता-काल में तो वे मेरे पथ-प्रदर्शक ही थे। उस समय की रचनाओं में कुछ पंक्तियाँ अब भी मुझे उनका स्मरण दिलाती हैं। अतः यह पुस्तक हार्दिक कृतज्ञता के साथ उन्हीं को समर्पित है। दुःख केवल यह है कि उनके जीवन-काल में इसका प्रकाशन नहीं हो सका।

३, कैनिंग रोड,
प्रयाग
२३ सितम्बर, १९३९

गोपालशरणसिंह

स्वर्गीय

आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

की

पुण्य-स्मृति

में

मैं भी एक कवि बन जाऊँ यही कामना है,
मेरी प्रतिभा का हो विकास क्षण-क्षण में।
और मैं बटोर लूँ मनोज्ञ-मृदु भाव सभी,
जो भरे पड़े हैं जगती के कण-कण में।
भर दूँ सरसता-मधुरता त्रिलोक की मैं,
निज रचनाओं के सुवर्ण-आभरण में।
फिर वे समस्त भारती की भावनायें भव्य,
भक्ति से चढ़ा दूँ गुरुदेव के चरण में।

विषय-सूची

प्रेम

हे जग-जीवन-सार !

आओ प्रेम ! बनो तुम मेरे,

हृदय-हार सुकुमार ।

सदा तुम्हारे लिए करूँगा,

मैं सुख से बलिदान ।

तन, मन, धन, जीवन जो चाहो,

दूँ मैं तुम पर वार ।

जो जी में आवे सो देना,

सदा रहूँगा तुष्ट ।

माँगूँगा मैं कभी न तुमसे,
कोई भी उपहार।
मेरे हृदय-धाम में होगा,
जहाँ तुम्हारा वास।
तहाँ शीघ्र मैं हो जाऊँगा,
निश्चय उच्च उदार।
स्वार्थ कपट ईर्षा का मन में,
नहीं रहेगा लेश।
उन्हें बहा देगी पल भर में,
पावन दृग-जल-धार।
क्रोध, विरोध, मोह, मद, मत्सर,
लोभ, क्षोभ, अभिमान।
सभी तुम्हारे प्रबल अनल में,
होंगे जल कर क्षार।
मैं न करूँगा कभी भूलकर,
अपने मन का काम।
मुझ पर होगा प्रेम! तुम्हारा,
सदा पूर्ण-अधिकार।
गाऊँगा मैं सदा तुम्हारे,
स्वर में जीवन-गीत।
होगा लीन तुम्हीं में मेरा,
सुख-दुखमय संसार।

जनवरी, १९१६

ग्राम

प्रकृति-सुन्दरी की गोदी में,
खेल रहा तू शिशु-सा कौन ?
कोलाहलमय जग को हरदम,
चकित देखता है तू मौन ।

जग के भोलेपन का प्रतिनिधि,
सहज सरलता का आख्यान;
विमल स्रोत मानव-जीवन का,
तू है विधि का करुण-विधान।

भव्य-भाव-भाण्डार अलौकिक,
सत्यशीलता का आगार;
पारावार प्रेम का तू है,
दुःख-दीनता का आधार।

छिपा मही के मृदु अञ्चल में,
जग का मूर्त्तिमान अनुराग;
तुझसे ही सीखता जगत है,
औरों के हित करना त्याग।

भोली लालनाओं से लालित,
विश्व-पुष्प का पुण्य-पराग;
कृषकों के श्रम-जल से सिंचित,
जग का छोटा-सा है बाग।

लघु होकर भी तू विशाल है,
 है छू गया न तुझे गरूर;
जग-सर का पङ्कज है, पर तू
 मलिन पङ्क से रहता दूर।

होकर भी असभ्य तू ही है
 विश्व-सभ्यता का आधार;
स्वावलम्ब की समुचित शिक्षा,
 पाता तुझसे है संसार।

होता है अंकुरित सर्वदा,
 खेतों में ही तेरा ज्ञान;
भू-शय्या पर तू करता है
 शीतल सोम-सुधा-रस-पान।

सरल बालकों का क्रीड़ा-स्थल,
 जगती के कृषकों का प्राण;
करता है इस विपुल विश्व का,
 तू ही सदा क्षुधा से त्राण।

ईश्वर से डरता है हरदम,
होकर भी तू सच्चा शूर;
दीन-हीन है, तो भी रहता
है तू लोभ-क्षोभ से दूर।

मानवता का प्रेम-निकेतन,
आदि सभ्यता का इतिहास;
भ्रातृ-भाव, समता, क्षमता का,
तू है अवनी में अधिवास।

छिपा व्योम में लघु तारा-सा,
तू है अपने ही में लीन;
लोल-लोल लहरों से लोलित,
विश्व-वारिनिधि का है मीन।

भोली चितवन से तू जग को,
सदा देखता है अविकार;
सबके लिए खुला रहता है,
सन्तत तेरे उर का द्वार।

दया क्षमा ममता आदिक हैं,
तेरे रत्नों के भाण्डार;
है निर्मल जल, शुद्ध वायु ही,
तेरे जीवन के उपहार।

छल से रहता दूर किन्तु तू,
बल-पौरुष में है भरपूर;
तेरे जीवन-धन हैं जग में,
बस किसान एवं मज़दूर।

कोयल तुझे सुना जाती है,
मधुमय ऋतुपति का सन्देश;
खेतों में पौधे उग-उग कर,
देते हैं तुझको उपदेश।

जग को जगमग करनेवाला,
है तुझमें न प्रकाश महान;
पर मिट्टी के ही दीपक से,
रहता है तू ज्योतिष्मान।

सह सकता है कभी नहीं तू,
बाह्य जगत की तीव्र बयार;
तुझे प्राण-सम प्रिय है हरदम,
निज भोला-भाला संसार।

काँटे चुभते ही रहते हैं,
उड़ती रहती तुझ पर धूल;
तो भी तू न मलिन होता है,
विश्व-वाटिका का मृदु फूल।

रख कर सबसे निपट निराला,
जगतीतल में निज व्यक्तित्व;
करता है तू सफल सर्वदा,
अपना छोटा-सा अस्तित्व।

जून, १९३७

ग्राम-वासिनी

सहज सुन्दरी कमल-कली-सी,
भोलेपन की प्रतिमा।
ग्राम-वासिनी मञ्जु-हासिनी,
मञ्जु ग्राम की सुषमा।

है जग की तू अतुल सरलता,
भामा अद्भुत - नामा।
भव्य बाल-सहचरी प्रकृति की,
है वामा अभिरामा।

जग-नन्दन-वन की विहारिणी,
मनोहारिणी बाला।
अन्धकारमय ग्राम-धाम का,
तू है विमल उजाला।

शान्त-कान्त सुषमा-सागर के,
वड़वानल की ज्वाला।
गुणगणवती ग्राम-देवी-सी,
है मञ्जुल मणि-माला।

अपनी मञ्जुल मृदुल गोद में,
तुझे प्रकृति ने पाला।
रज में लोट-लोट कर तूने,
पाया रूप निराला।

कोयल से तू सीख-सीख कर,
पञ्चम स्वर में गाती।
कुसुमाकर के क्रीड़ास्थल में,
तू है छवि छहराती।

हरे-हरे पौधे खेतों में,
तेरा स्वागत करते।
तेरे साथ-साथ पशु-पक्षी,
हैं स्वच्छन्द विचरते।

रुचिर करौंदा के फूलों को,
पहन मनोहर माला।
कृष्ण, कृष्ण टेरा करती है,
बन कर तू ब्रज-बाला।

तेरे साथ नित्य गोगण को,
है गोपाल चराता।
तेरे घर में रोज़ कन्हैया,
माखन - रोटी खाता।

मुरलीधर मुरली की तुझको,
तानें मधुर सुनाता।
मानवती! है सदा प्रेम से,
मोहन तुझे मनाता।

रुचिर ग्राम की अमराई में,
बहता है रस-सोता।
सरिता के तट पर प्रतिदिन ही,
चीर-हरण है होता।

तेरा जीवन-धन आजीवन,
तुझसे नेह निभाता।
तेरा कृष्ण त्याग कर तुझको,
कभी न मथुरा जाता।

मई, १९३८

प्रभात

वसुधा को निज प्रेमोपहार, रवि ने पहनाया रश्मि-हार।

आया रजनी का अन्तकाल,

टूटा स्वप्नों का स्वर्ण-जाल,

मिट गया जगत का अन्धकार।

वसुधा को निज प्रेमोपहार, रवि ने पहनाया रश्मि-हार।

कलियों ने खोले नयन बन्द,
वह चला समीरण मन्द मन्द,
लेकर सौरभ का मधुर भार।
वसुधा को निज प्रेमोपहार, रवि ने पहनाया रश्मि-हार।

देखा जब सोने का विहान,
विहगों ने छेड़ी मधुर तान,
जग-जीवन का खुल गया द्वार।
वसुधा को निज प्रेमोपहार, रवि ने पहनाया रश्मि-हार।

शतदल ने पाया भ्रमर-गान,
जग ने जागृति का अमर दान,
साकार हुआ जल-थल अपार।
वसुधा को निज प्रेमोपहार, रवि ने पहनाया रश्मि-हार।

सितम्बर, १९३८

कोयल

कोयल ने क्या कथा कही ?
अनायास जग के जीवन में
सरस-सुधा की धार बही।
विकसित लता-विटप-वेलों से
हुई विभूषित विपिन-मही।
किन्तु मलीन गगन के उर में
अकृत शून्यता बनी रही।

सितम्बर, १९३८

विधि-विपर्यय

है विकास एवं विनाश भी,
वसुधा की हरियाली में।
उषा और सन्ध्या रहती है,
छिपी गगन की लाली में।

प्रश्नावली

तुमने किया है कभी कोई बड़ा काम नहीं,
फूल रहे फिर क्यों वृथा ही तुम मन में ?
दूर किया जग में किसी का दुख दैन्य नहीं,
भूल गये तुम अपने को निज धन में।
रहते सदैव भयभीत हो विपत्तियों से,
क्या न कुछ बल है तुम्हारे इस तन में ?
विश्व-प्रेम-सौरभ न प्राप्त तुमसे जो हुआ,
क्या फिर भला है रस जीवन-सुमन में ?

तुच्छ स्वार्थ-शत्रु तुम्हें वश में किये हैं—खूब,
तुममें चरित्र का क्या लेश भी न बल है ?
किस भाँति हृदय-सरोरुह तुम्हारा खिले ?
उसको जलाता सदा ईर्षा का अनल है।
तुम्हें सुख-शान्ति से है रहने न देती कभी,
मन में तुम्हारे यह कैसी हलचल है ?
सींचे बिना देश-प्रेम-जल से न दुर्लभ क्या,
तुम्हें जग-जीवन-विटप का सुफल है ?

फ़रवरी, १९१८

विजय-दशमी

किस अतीत का चारु चित्र तू
हमें दिखाने आई है ?
किस युग के वैभव की बातें
देवि ! बताने आई है ?

कब के मुरझे मन-सुमनों को
आज खिलाने आई है?
कब के भूले हुए सुखों की
याद दिलाने आई है?

आशाओं की कौन रागिनी
तू अब गाने आई है?
किन अभिलाषाओं को वंशी
देवि! बजाने आई है?

स्वप्न-लोक की कौन कहानी
हमें सुनाने आई है?
उर-सागर में किन भावों की
लहर उठाने आई है?

किन बिछुड़े हृदयों को फिर से
देवि! मिलाने आई है?
कब के सोये हुए भाग्य को
आज जगाने आई है?

लाकर मुक्ता-कोष गगन से
कहाँ लुटाने आई है ?
तारों की मणिमाला किसको
तू पहनाने आई है ?

अक्टूबर, १६३२

चित्त-चोर

लता-द्रुम-वल्लियों में बार-बार खोज चुका,
खोज चुका पल्लवों में और फूल-फूल में।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में मैं उसे खोज चुका,
खोज चुका कलित कलिन्दजा के कूल में।
व्योमतल, भूतल, रसातल में खोज चुका,
खोज चुका वन उपवन छवि-मूल में।
किस भाँति निज चित्त-चोर को मैं पाता कहीं?
वह तो छिपा है मृदु-मानस-दुकूल में।

मई, १९२८

संसार

कितने ही चक्कर खाने पर,
करने पर अनेक बलिदान।
सदियों के पीछे वसुधा को,
हुआ तुम्हारा कुछ-कुछ ज्ञान।

जग की भूलें आ बैठी हैं,
उसके सिर पर बन कर भार।
किस प्रकार हो पार यत्न से,
यह अपार दुख-पारावार ?

जग के सिर पर चढ़ा हुआ है,
जब तक मोह-द्रोह का भूत।
उसका क्लेश छुड़ाने तब तक
आओगे क्या तुम पुरहूत ?

कर चुकने के बाद न जाने,
कितनी शताब्दियों को पार।
नाथ ! तुम्हारी ओर झुकेगा,
यह मदान्ध दुर्विध संसार।

जनवरी, १९३९

दुःख-गाथा

चारों ओर रोते फिरते हैं दल बादल के,
दामिनी सभीत रहती है छिपी घन में।
रात भर तारे अश्रु-जल बरसा के प्रात,
होते हैं विलीन द्युति-हीन हो गगन में।
झुलसे प्रखर रवि-रश्मियों से वृक्ष-वृन्द,
खाते हैं समीर के थपेड़े सदा वन में।
कहाँ जायँ, किसको सुनावें दुःख-गाथा निज,
कौन सुनता है दुखियों की त्रिभुवन में ?

जून, १९३७

अनुरागिनी

व्रज-वनितायें सब प्यार करती हैं जिसे,
मैं भी उसी मोहन से नेह हूँ निवाहती।
जिसके गुणों का गान ये हैं करती सदैव,
मैं भी तो उसी को दिनरात हूँ सराहती।
जिसको न देखे विना होती उनको है व्यथा,
उसके वियोग में ही मैं भी हूँ कराहती।
सजनी! बता दे क्या बुराई इसमें है भला,
सब चाहती हैं जिसे मैं भी उसे चाहती।

राधा-रोदन

हे मन-मोहन प्यारे !
मुझे छोड़ कर यहाँ अकेली
अब तुम कहाँ सिधारे ?
फिरती हूँ मैं तुम्हें टेरती
वन में सदा मुरारे ।

किन्तु कहीं मैं खोज न पाती
अब पद-चिह्न तुम्हारे।
आओ, आओ, जीवन-धन! तुम
रहो न पल भर न्यारे।
व्याकुल हैं तुम बिना तुम्हारे
ग्वाल-बाल बेचारे।
नहीं नाचते कभी मोर ये
अब निज पक्ष उभारे।
पशु-पक्षी भी ब्रज के सारे
हैं उदास मन-मारे।
सह सकती मैं अबला कब तक
विरह-व्यथा धृति-धीरे ?
कहो नाथ ! क्या सदा रहोगे
अब तुम मुझे बिसारे ?
ओस-अश्रु तुम बहा रहे हो
दया-द्रवित हो तारे।
ला दो वह ब्रजचन्द खोज कर
मैं हूँ राह निहारे।
आवेंगे फिर नहीं कभी क्या
प्यारे नन्द-दुलारे ?

आजा तू ही मृत्यु, दया कर,
मिटें क्लेश ये सारे।
मुझे मृत्यु दो तुम्हीं आज अब
दया-धाम त्रिपुरारे ?
यही भीख मैं माँग रही हूँ
आँचल यहाँ पसारे।

जनवरी, १६१४

आँख रो-रो कर गई है फूल-सी,
चपलता उसकी गई है भूल-सी।
हाय! उसमें एक छोटी किरकिरी,
सालती है सर्वदा ही शूल-सी।

आँख में वह किरकिरी तो थी पड़ी,
वेदना फिर क्यों हृदय में है बड़ी।
क्या निगोड़ी किरकिरी वह दुखमयी,
आँख से जाकर कलेजे में गड़ी?

हार कर दृग से भगा मृग दीन है,
नीर में रहता छिपा ही मीन है।
किन्तु चिढ़ कर दुष्ट खञ्जन आँख में,
डाल आया एक तिनका पीन है।

रूप पर अभिमान करना भूल है,
वह कभी बनता बहुत दुख-मूल है।
रीझ कर सौन्दर्य पर ही क्या नहीं,
आँख में आकर पड़ी यह धूल है?

वेदना तो है हृदय में छा रही,
आँख क्यों है अश्रु-धार बहा रही ?
क्या हृदय की वेदना ही आँख में,
किरकिरी बन कर व्यथा उपजा रही ?

आँख से ही आँख क्या थी लड़ गई ?
टूट कर कोई बरौनी झड़ गई।
क्या वही उड़ कर अचानक प्रेम-वश,
उस अभागी आँख में है पड़ गई ?

यह न जाने कौन मुझसे कह गया ?
सब मनोरथ आँसुओं में बह गया।
पर मनोरथ एक अब भी आँख में,
किरकिरी बनकर छिपा ही रह गया।

मार्च, १९२५

लोचन

मोल तोल से काम क्या,
तुमको लोचन लोल ?
जो तुमको भाता वही,
बन जाता अनमोल।
जलते हैं शीतल सजल,
ये लोचन दिन-रात।
एक साथ हैं देख लो,
ग्रीष्म, शिशिर, बरसात।

मई, १९२३

पगली

रहती है नहीं तनिक भी,
तुझको सुध अपने तन की।
मिल गई कहाँ से तुझको,
इतनी मादकता मन को?

चिथड़ों से सुन्दर तन का,
श्रृङ्गार सदा तू करती।
क्यों तू विकीर्ण-कच-वामा,
वन में है नित्य विचरती ?

क्या भूख प्यास भी तुझको,
है नहीं तनिक भी लगती ?
किस प्रेम-प्रतीक्षा में तू,
है नित्य रात भर जगती ?

हँसती ही रहती है तू,
बैठी एकान्त सदन में।
कितना उल्लास भरा है,
तेरे इस पागलपन में !

अप्रैल, १६३६

उपालम्भ

तुम नहीं सुनते हम क्या करें?
पर कहाँ तक धीरज भी धरें?
यदि सुखी तुमको हम देखतीं,
सफल तो दुख भी निज लेखतीं।

तनिक शान्ति कहीं मिलती नहीं,
हृदय की कलिका खिलती नहीं।
अधिक और व्यथा कितनी सहें?
किस प्रकार सदा घुलती रहें?

सब तुम्हें उर-हीन बखानते,
विकल प्राण तथापि न मानते।
न मिटता उर का दुख-दाह है,
न घटती चित की वह चाह है।

सरल चित्त चुरा तुमने लिया,
सब प्रकार हमें वश में किया।
उचित क्या तुमको मुँह मोड़ना,
प्रणय का ध्रुव बन्धन तोड़ना?

बहुत थे हमको तुम चाहते,
नित रहे सब भाँति सराहते।
अब गया वह प्यार कहाँ घना?
अहह! क्या वह थी बस वञ्चना?

कृशित कण्टक-सा तन हो गया,
रुदन के जल से वह धो गया।
तुम तथापि अहो! पिघले नहीं,
गिर गये तब से सँभले नहीं।

सतत प्यार जिसे तुमने किया,
अब उसे सब भाँति भुला दिया।
सच कहो किसका सब दोष है?
किस लिए इतना यह रोष है?

यदि हमें रहते तुम चाहते,
तनिक भी निज नेह निबाहते।
हम सुखी रहतीं नित सर्वथा,
न खलती हमको अपनी व्यथा।

निठुर तो तुम नेक न थे कभी,
फिर हुए किस भाँति भला अभी?
बस हुआ विधि ही प्रतिकूल है,
कठिन वज्र हुआ मृदु फूल है।

जनवरी, १९१५

प्रार्थना

तुम चाहते हो न हमें दिल से,
यह तो न किसी से बताया करो।
हमको तुम नाहक दोष न दो,
कुछ और ही बात बनाया करो।
इतनी तो दया दिखलाया करो,
तुम नाथ ! हमें न भुलाया करो।
तरसाया करो, कलपाया करो,
तड़पाया करो, पर आया करो।

दिसम्बर, १६२६

अन्तिम प्रार्थना

जीवन-प्रदीप बुझ रहा,
दया दिखलाओ।
बस थोड़ी-सी है कसर,
शीघ्र आ जाओ।

आओ, आओ अब तो न
विलम्ब लगाओ।
जिसमें जीवित ही हमें
यहाँ तुम पाओ।

जो होना था वह हुआ,
न कुछ पछताओ।
बीती बातों के लिए
न अब शरमाओ।

सङ्कोच छोड़ दो व्यथा
न मन में लाओ।
बस निज प्रसन्न मुख-छटा
हमें दिखलाओ।

बन कर विनीत तुम हमें
मनाने आओ।
मन का चिरकालिक ताप
मिटाने आओ।

आँखों की गहरी प्यास
बुझाने आओ।
अब तो दुःखों से पिण्ड
छुड़ाने आओ।

अपनी वह मीठी तान
सुनाने आओ।
निज रूप-राशि फिर हमें
दिखाने आओ।

यह मुरझा हृदय-सरोज
खिलाने आओ।
निज प्रेम-पुञ्ज-पीयूष
पिलाने आओ।

लो, एक बार फिर हमें
गले लिपटाओ।
विश्लेष-क्लेश सविशेष
अशेष मिटाओ।

आकर अपना यह गेह
पवित्र बनाओ।
बस प्रीति-सहित अब हमें
विदा कर जाओ।

आकर बस यह वरदान
हमें दे जाओ।
"जग में जब हो फिर जन्म
हमें तुम पाओ।"

अब यह अन्तिम प्रार्थना
चित्त में लाओ।
मरना तो सुखमय हमें
सहर्ष बनाओ।

फ़रवरी, १९२३

दिवंगता

कैसे भूल सकूँ तुझे तनिक भी
मैं भूल से भी भला ?
मेरे मानस-व्योम की रुचिर है
तू चन्द्रमा की कला।
तेरी मञ्जुल मूर्त्ति सौख्य-सुध-सी
आती सदा ध्यान में।
पक्षी-सी नित तू विहार करती
मेरे मनोद्यान में।

तेरी प्रीति सदैव ही अटल थी,
कैसे गई तू चली ?
मेरे भाग्य-समान वाम विधि से
तू भी गई क्या छली ?
चाहे निर्दय दुष्ट दैव हर ले
मेरे सुखों को सभी।
प्राणाधार प्रिये ! तुझे हृदय से
जाने न दूँगा कभी।

प्यारी तू जब है नहीं रह गई,
क्या है सहारा मुझे ?
होता ज्ञात महान्धकारमय है
संसार सारा मुझे।
धिक-धिक प्राण तुम्हें यहाँ रह गये
प्राणेश्वरी के विना।
है निर्वाह कभी न नीर-निधि में
होता तरी के विना।

ज्यों तू पावन जाह्नवी-सदृश थी
वामोरु ! आई यहाँ।
त्यों तूने अति ही पुनीत उस-सी
सत्कीर्ति पाई यहाँ।

थी स्वर्गीय, तुझे मिले गुण रहे
स्वर्गीय सारे यहाँ।
देवी-सी विमल-प्रभा सतत ही
तू थी पसारे यहाँ।

थी जैसी सब भाँति तू गुणवती,
वैसी रही सुन्दरी।
थी तू कोकिल-कण्ठिनी रसमयी,
मानो रही किन्नरी।
होके सिञ्चित दिव्य प्रेम-जल से
थी वल्लरी-सी खिली।
क्या कोई सुर-कामिनी त्रिदिव से
आके मुझे थी मिली?

थी तू वारिज-लोचनी विधु-मुखी,
वामोरु बिम्बाधरी।
थी फूली कमनीय कल्प-लतिका,
दिव्याङ्गना सुन्दरी।
तेरी चाल मराल-सी सुतनु! मैं
हूँ भूल पाता नहीं।
तेरा साम्य कहीं त्रिलोक भर में
है दृष्टि आता नहीं।

है तेरा सब भाँति राज्य मन में
तू हो भले ही कहीं।
कैसे मैं यह मान लूँ अब भला
वामोरु! तू है नहीं।
प्यारी! तू रहती सदैव मुझको
प्रत्यक्ष ही ध्यान में।
होता ज्ञात नहीं कि प्राण तुझमें
हैं या कि तू प्राण में।

धोखे से विधि ने सयत्न मुझसे
चाहा तुझे छीनना।
प्यारी! ताड़ गई परन्तु उसकी
तू शीघ्र ही वञ्चना।
प्यारे सागर में सहर्ष सरिता
है लीन होती यथा।
मेरे मानस-रूप मानसर में
तू भी समाई तथा।

क्यों तेरा विरही मुझे अब प्रिये!
संसार है मानता।
तू मेरे मन-कुञ्ज में छिप रही,
क्या है नहीं जानता?

तेरी याद सदा मुझे मिलन-सा
आनन्द है ला रही।
आठों याम सुगन्धि-सी सुमन में
है चित्त में छा रहा।

है तेरी छवि नित्य नेत्र-नभ में
विद्युत्प्रभा-सी लसी।
तेरी मञ्जुल मूर्त्ति है हृदय में,
तू ध्यान में है धँसी।
कानों में बस गूँजती सतत है
तेरे गुणों की कथा।
तू मेरे मन में बसी, विरह को
कैसे मुझे हो व्यथा ?

कैसे हूँ विरही सदा सहचरी
मैं लेखता हूँ तुझे।
प्यारी ! मानस-चक्षु से सतत हो
मैं देखता हूँ तुझे।
तेरी ही सुध बार-बार मुझको
आती अनायास है।
हो के भी अति दूर जान पड़ती
तू सर्वदा पास है।

जैसे वारिद का कभी न तजती
हैं साथ सौदामिनी।
वैसे हो सकती कदापि मुझसे
न्यारी न तू भामिनी।
होती है घन.- अङ्क-मध्य चपला
प्रच्छन्न ज्यों सर्वदा।
त्यों मेरे मन-सद्म में छिप गई
तू मंजु मोद-प्रदा ।

कैसे क्लेश मुझे वियोग-घन की
दे आज काली घटा ?
है मेरे उर-देश में खचित-सी
तेरी निराली छटा।
धाता ने तुझको हरा पर मुझे
तू आज भी है मिली।
प्राणों में अनुराग-राग भरती
है पद्मिनी-सी खिली ।

प्यारी ! तू मुझको कदापि कपटी
प्रेमी नहीं मानना।
वैसा ही मुझको पवित्र प्रणयी
तू आज भी जानना।

मेरी केवल देह है रह गई
सूखी लता-सी यहाँ।
मेरे प्राण वहीं सदैव रहते
है प्राणप्यारी जहाँ।

तेरा चारु चरित्र आत्म-बल है
देता मुझे आज भी।
तेरा चिन्तन विश्व-वारि-निधि में
खेता मुझे आज भी।
तेरे कीर्ति-कलाप से ध्रुव मुझे
उत्कर्ष है आज भी।
तेरा पावन प्रेम-पुञ्ज मुझको
आदर्श है आज भी।

हे देवी अब भी मनोभवन की
तू प्रेम - सञ्चारिणी।
तू ही है अवलम्बिनी प्रणय की
मेरे मनोहारिणी।
तेरा स्थान कदापि ले न सकती
है दूसरी कामिनी।
तू ही हे गजगामिनी! हृदय की
है आज भी स्वामिनी।

जुलाई, १९२५

शोकोद्गार

वत्स, वत्स, हे वत्स ! कहाँ हो
कुछ न समझ में आती बात।
बुद्धि आज कुछ काम न देती,
क्यों जड़-तुल्य हुआ है गात ?
कुटिल काल ! तू छीन ले गया
क्या सचमुच ही मेरा लाल ?
नहीं, नहीं, मैं देख रहा हूँ
कोई अशुभ स्वप्न विकराल।

मुझे छोड़ कर व्याकुल घर में
तुमने कहाँ किया प्रस्थान ?
चले गये तुम वत्स ! अकेले
कैसे इसको लूँ मैं मान ?
कुछ न समझ में आया अब तक,
थी किसको वह चाल कराल ।
उषा बाल-रवि के भ्रम से क्या
तुम्हें ले गई प्रातःकाल ?

वत्स ! तुम्हें यह दृष्टि अभागी
खोज रही है चारों ओर ।
किन्तु कहीं तुम देख न पड़ते,
है कैसी यह दशा कठोर ?
नव-विकसित कोमल गुलाब की
गिरी हुई पङ्खड़ी समान ।
तुम्हें उड़ा ले गया कहीं क्या
चुपके से आकर पवमान ?

ज़रा देर तक गगनाङ्गण में
सन्ध्या-समय खेल सानन्द ।
हो जाता है लुप्त शीघ्र ही
मृदुल द्वितीया का ज्यों चन्द ।

त्यों ही तुम भी अल्प काल तक
कर निज लीला का विस्तार।
बतलाओ, अब कहाँ छिप गये
मेरे उर-मयङ्क सुकुमार ?

हुए मुग्ध क्या देख गगन में
दीप्तिमान नक्षत्र - समाज ?
क्या तारों की सभा-मध्य हो
तुम भी जाकर बैठे आज ?
किन्तु तुम्हारे बिना शोक से
विह्वल स्वजन हो रहे हाय !
उनका आश्वासन करने का
बतलाओ है कौन उपाय ?

चन्द्र-खिलौना लेने को तुम
उत्सुक रहते थे सब काल।
पर मैं उसे न ला सकता था
जान गये क्या तुम यह हाल ?
इसी लिए उसको लाने को
क्या तुम स्वर्ग गये हो आज ?
अथवा हो विमुग्ध छिप कर क्या
तुम्हें ले गया देव-समाज ?

तुमसे कितना प्यार मुझे था
तुम्हें नहीं था इसका ज्ञान।
चले गये चुपचाप इसी से
करके मेरा तनिक न ध्यान।
पर होता था प्रकट सदा ही
पद-पद पर जिसका अनुराग।
उस अभागिनी जननी का भी
तुमने वत्स! किया क्यों त्याग?

स्नेहमयी माता के उर में
हरदम रहा तुम्हारा स्थान।
करते थे सब स्वजन तुम्हारे
तुमको सदा स्नेह का दान।
हृदय-भवन के दीपक! कैसे
हुआ तुम्हारा फिर निर्वाण!
हाय! तुम्हारे बिना रात-दिन
विलख विलख रोते हैं प्राण।

जान न पाया तुम्हें जगत ने,
तुम भी उससे थे अनजान।
किस प्रकार फिर तुमको उससे
ऐसा हुआ विराग महान?

होता है विलीन पल भर में
ज्यों सागर में वीचि-वितान।
त्यों ही तुम भी वत्स! न जाने
कहाँ हो गये अन्तर्धान।

टूक-टूक हो रहा कलेजा,
व्याकुलता बढ़ रही महान।
पल-पल बीत रहा है मेरा
हाय! आज बस कल्प-समान।
कर सकते थे कभी न क्षण भर
जो तुमको आँखों की ओट।
सहें जनक-जननी अब कैसे
यह दुःसह वियोग की चोट?

सुधा सींचती थी श्रवणों में
सतत तुम्हारी गिरा रसाल।
तुम्हें देखते ही होता था
पुलकित यह शरीर सब काल।
किन्तु शूल-सा हूल रहा है
उर में आज तुम्हारा ध्यान।
करुणा-वरुणालय का कैसा
है यह निठुर कठोर विधान?

जून, १९२४

सूचना

मन की व्यथा है हुई सर्वथा असहनीय,
तन की कथा क्या कहें, उसका नहीं है ध्यान।
व्याकुल हैं प्राण और बुद्धि है ठिकाने नहीं,
काम कुछ आते नहीं अब निज आँख-कान।
देती है दिखाई सब ओर विपदा की घटा,
पूरा प्रतिकूल है हमारे विधि का विधान।
देख के हमारी दशा है तुम्हें महान हर्ष,
सूचना इसी की है तुम्हारी मन्द मुसकान।

जून, १९२७

भाग्य का फेर

भाग्य चमका था हमारा
फूटने ही के लिए।
वर-विभव विधि ने दिया था
लूटने ही के लिए।

एक वह भी था समय
सुर भी हमारे बन्धु थे।
किन्तु वह सम्बन्ध भी था
टूटने ही के लिए।

थे उठे आकाश तक हम
सिर्फ़ गिरने के लिए।
हाथ आया था अमृत-फल
छूटने ही के लिए।
रह गये हैं हम यहाँ सिर
कूटने ही के लिए।
है हमारा जन्म बस विष
घूँटने ही के लिए।

फ़रवरी, १९२४

भरत-भूमि

जिसने जग को था मुक्ति-मार्ग दिखलाया;
जिसने उसको था कर्म-योग सिखलाया;
था जिसका दिव्यालोक लोक में छाया;
जिसका गुण सबने मुक्तकण्ठ से गाया;
था जिसका सारा विश्व सदैव पुजारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

गौतम-कणाद-से जहाँ हुए थे ज्ञानी;
जिसमें दधीचि-शिवि-सदृश हुए थे दानी;
जो मानी गई सदैव विश्व की रानी;
था जग में कोई देश न जिसका सानी;
जिसके अधीन थीं ऋद्धि-सिद्धियाँ सारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

बलराम अतुल बल-धाम हुए थे जिसमें;
निज-नाम-धन्य श्रीराम हुए थे जिसमें;
घनश्याम महा अभिराम हुए थे जिसमें;
मुनिवर्य निपट निष्काम हुए थे जिसमें;
सीता-सी साध्वी हुई जहाँ थी नारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

था जिस-सा कोई देश न गौरवशाली;
थी जिसमें सब सम्पदा सुरपुरीवाली;
थी फैली जिसमें अतुल ज्ञान की लाली;
थीं जिसकी बातें सभी नितान्त निराली;
जो रही सर्वथा तीन लोक से न्यारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

मालिन्य, मोह, मद, द्वेष नहीं था जिसमें;
छल, छद्म, पाप का लेश नहीं था जिसमें;
पाखंड कपट का वेष नहीं था जिसमें;
कुछ कहीं किसी को क्लेश नहीं था जिसमें;
था धर्म-कर्म ही वर्म जहाँ का भारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

रहता था जहाँ सुकाल सदा सुखकारी;
थे सुखी स्वस्थ सब मनुज जहाँ के भारी;
थी जहाँ न कोई प्लेग आदि बीमारी;
डरती थीं जिससे आधि-व्याधियाँ सारी;
थे जहाँ सदय सब काल सभी अधिकारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी!

अपने वश में ही जहाँ सभी का मन था;
तन हृष्ट पुष्ट था और विमल आनन था;
धन के रहते भी जहाँ सरल जीवन था;
सब जन थे जहाँ स्वतन्त्र न कुछ बन्धन था;
रक्षक थे जिसके देव-वृन्द सुखकारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

अति धीर-वीर थे मनुज जहाँ के सारे;
नर-नाथ जहाँ के न्याय-मूर्त्ति थे प्यारे;
नीतिज्ञ जहाँ के रहे कपट से न्यारे;
फिरते थे याचक जहाँ न मारे-मारे;
थे जहाँ भीष्म-से ब्रह्मचर्य-व्रतधारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

थीं सुखी सती शिक्षिता जहाँ की नारी;
रहते थे मालामाल जहाँ व्यापारी;
शुभ शुक्ल-पक्ष की चन्द्र-कला-सी न्यारी;
बढ़ती थी विद्या-कला जहाँ की सारी;
था जहाँ न कोई क्रूर कुटिल अविचारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

मन निर्मल सबका जहाँ प्रेम निश्चल था;
पीड़क निर्बल का जहाँ कभी न सबल था;
दाम्पत्य अटल था जहाँ न विधवा-दल था;
अपने ऊपर विश्वास जहाँ प्रति-पल था;
आराध्य जहाँ थे एक त्रिलोक-विहारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

जिसमें प्रकाश का प्रथम प्रकाश हुआ था;
जिसमें विकास का स्वयं विकास हुआ था;
सब विभूतियों का जहाँ विलास हुआ था;
लक्ष्मी-निवास का जहाँ निवास हुआ था;
जो अशरण-शरण सदैव रही दुखहारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

जो थी विज्ञों की जन्म-भूमि मनभाई;
ले जन्म जहाँ सभ्यता बढ़ी सुखदायी;
सुरपुर तक जिसकी विमल कीर्त्ति थी छाई;
जिसका सदैव सब विश्व रहा अनुयायी;
रहती थी जिसमें भक्ति विशेष हमारी;
वह भरत-भूमि है यही हमारी प्यारी।

जनवरी, १६२३

मातृ-महिमा

हे माता ! अत्यन्त
अपरिमित तेरी महिमा;
अतुलनीय है पुत्र-
प्रेम की तेरे गरिमा।
धन्य धन्य तू धन्य,
महा - मुद - मङ्गलकारी;
जग-जननी के तुल्य
वन्द्य है, विपदा - हारी।

चाहे सारा नीर
नीर-निधि का चुक जावे;
चाहे अपना अन्त
अनन्त गगन दिखलावे।
पर, इसमें सन्देह
नहीं है कुछ भी, माता!
तेरे पावन पुत्र-
प्रेम का अन्त न आता।

तेरा पावन प्रेम
जगत को पावन करता;
मद, मत्सर, मालिन्य,
मोह मन का है हरता।
तुझमें कभी न तनिक
ह्रास उसका होता है;
बस तेरे ही साथ
नाश उसका होता है।

जो कृतघ्नता सदा
शूल उर में उपजाती;
जिस-सी कोई वस्तु
दुखमयी दृष्टि न आती।

तेरा दृढ़ वात्सल्य
न वह भी हर सकती है;
तुझको सुत से विमुख
नहीं वह कर सकती है।

कौन कष्ट तू नहीं
पुत्र के लिए उठाती ?
उसे खिलाकर देवि !
स्वयं भूखी रह जाती।
अपने तन का वस्त्र
उसे सुख से दे देती;
वसन-हीन रह स्वयं
शीत का दुख सह लेती।

दासी-सी तू देवि !
पुत्र की सेवा करती;
सदा मित्र की भाँति
विघ्न-बाधा सब हरती।
देती शिक्षा नित्य
उसे तू शिक्षक जैसी;
करती उसकी देख-
भाल संरक्षक जैसी।

मतलब के ही यार
सभी को मैं हूँ पाता;
कहीं स्वार्थ से हीन,
प्रेम है दृष्टि न आता।
बता; कहाँ से देवि!
प्रेम तू ऐसा पाती?
नहीं स्वार्थ की तनिक
गन्ध भी जिससे आती।

देख पुत्र को धूल-
धूसरित भी निज सम्मुख;
करती है तू सदा
अतुल अनुभव उर में सुख।
उसको कर से खींच
गले से तू लिपटाती।
उसके मलिन कपोल
चूम फूली न समाती।

जो तुझ पर पड़ जाय
देवि! विपदा भी भारी;
तो भी सुत को छोड़,
नहीं तू होती न्यारी।

राहु-ग्रस्त जब कला
कलाधर की हो जाती;
मृग-शिशु को वह कभी
न तब भी दूर हटाती।

चाहे प्यारे मित्र
बन्धु हों उससे न्यारे;
चाहे हों प्रतिकूल
जगत भर के जन सारे।
पर रहती अनुकूल
सदा तू सुत के माता;
बस निश्चल है प्रेम
एक तेरा सुखदाता।

जब वह बहुविधि पाप-
पङ्क में भी सन जाता;
होकर पूरा पतित
निन्द्य जग में बन जता।
तब भी तू निज दया-
दृष्टि सुत से न हटाती;
ऐसी दृढ़ता कहीं
प्रेम को दृष्टि न आती।

तू सुत के क्षेमार्थ
ध्यान ईश्वर का धरती;
भक्ति-सहित कर जोड़,
प्रार्थना यह है करती।
"जो चाहो सो क्लेश
मुझे दे लो दुखकारी;
रखना सुत को सुखी
सदा हे भव-भय-हारी।"

सुत के सुख से सुखी
सर्वथा तू है रहती;
उसके दुख में सदा
दुःख भी तू है सहती।
वह तो पाता ख्याति
गर्व पर तू है करती;
मरती जब तब पुत्र-
प्रेम से विह्वल मरती

सुत को चिन्तित देख
व्यथित अति तू हो जाती;
उसे नेक भी खिन्न
जान कर तू घबराती

तुझसे उसकी तनिक।
व्यथा भी सही न जाती;
छोटी भी किरकिरी
आँख को विकल बनाती।

तू न कुपथ पर कभी
पुत्र को जाने देती;
बुरे व्यसन में उसे
न चित्त लगाने देती।
सद्भावों के बीज
हृदय में तू ही बोती;
सदाचार की सीख
प्राप्त तुझसे ही होती।

जब अभाग्य-वश मनुज
आपदा में फँस जाता;
तब तेरा ही ध्यान
उसे आता है, माता।
तू ही उसको देवि!
उस समय धीरज देती;
सुत की रक्षा हेतु
प्राण भी तू तज देती।

सुत पर तेरी प्रीति
देवि ! रहती है भारी;
पर पुत्री भी तुझे
सर्वथा जी से प्यारी।
प-पंक्ति जो पुष्प-
प्रेम-रस में है बहती;
क्या न मुग्ध वह आम्र-
मञ्जरी पर है रहती ?

हो अयोग्य गुण-हीन
भले ही तेरी संतति;
रहती तेरी प्रीति
अटल तो भी उसके प्रति।
वक्र अपूर्ण शशांक-
कला भी कृश-तनुधारी;
होती है क्या नहीं
यामिनी को सुखकारी ?

जहाँ स्वर्ग तू गई,
आँख दुनिया से फेरी;
निरवलम्ब सन्तान
सभी हो जाती तेरी।

ज्यों ही प्यारी नदी
सूख जाती है सारी;
त्यों ही आश्रय-हीन
मीन होती बेचारी।

अगस्त, १६१४

विलाप

मैं कुछ समझ न पाती
अब तुम कहाँ सिधारे।
खोजूँ तुम्हें कहाँ मैं
हे वत्स! प्राणप्यारे!

उड़ कर तुरन्त नभ में,
मैं खोजती खगी-सी।
पर है नहीं, पड़ी हूँ
निरुपाय शोक-धारे।

मेरे बिना तुम्हारा
क्या हाल हाय ! होगा ?
रहते निमेष - भर थे
मुझसे कभी न न्यारे।
क्यों रूठ तुम गये हो ?
किसने तुम्हें चिढ़ाया ?
आओ, यहाँ खिलौने
सब हैं धरे तुम्हारे।
निरुपाय हाय ! हूँ मैं,
रोऊँ न क्यों बिलख कर ?
आओ, व्यथा मिटाओ
मेरे हृदय - दुलारे।
जो व्योम में छिपे हो
तुम तारकावली में।
कूदो तुरंत, मैं हूँ
आँचल यहाँ पसारे।
यदि कृष्ण के सदृश तुम
कूदे कलिन्दजा में।
हे वत्स, शीघ्र निकलो,
मैं रो रही किनारे।
जो पुष्प-जाल में तुम
जाकर कहीं छिपे हो।
हँसते तुरंत आओ,
दो मेट क्लेश सारे।

अपनी व्यथा-कथा मैं
कैसे तुम्हें सुनाऊँ ?
हैं चल रहे हृदय पर
मानो सहस्र आरे।
किस भाँति जी रही हूँ ?
सब रक्त जल हुआ है।
दिन-रात आँसुओं के,
हैं वह रहे पनारे।
जल-हीन मीन-सी मैं
हूँ तुम बिना तड़पती।
दिन में दिनेश साक्षी,
निशि में निशेश-तारे।
शोकार्त्त प्राण मेरे
क्यों छटपटा रहे हैं ?
जाते न क्यों वहाँ ये,
तुम हो जहाँ पधारे ?

दिसम्बर, १९२४

उन्माद

जब नहीं आकर किया
तुमने हृदय में वास;
हो अधीर स्वयं चला
तब वह तुम्हारे पास।
पर न तुमको पा सका,
की व्यर्थ बहुत तलाश;
लौट आया अन्त में
होकर अतीव हताश।

दृष्टिगोचर हो न तुम
कहते सभी मतिमान;
सत्य हम भी क्यों न फिर
यह बात लेते मान।
लोचनों को मूँद कर
करने लगे हम ध्यान;
हाय ! तो भी कुछ हमें
न हुआ तुम्हारा ज्ञान।

चित्त देकर और सुन लो
एक दिन की बात;
सो रहे थे हम पड़े
बीती बहुत थी रात।
सामने तुम हो खड़े
ऐसा हुआ कुछ ज्ञान;
किन्तु जब आँखें खुलीं
उर में हुआ आघात।

खिलखिलाकर हम कभी
हँसते बहुत आह्लाद;
और रोते हैं कभी
पाकर अतीव विषाद।

प्रेम-वश करते तुम्हारा
हम सदा गुणवाद;
लोग क्यों कहते भला
हमको हुआ उन्माद।

सोच लो कब से बने हैं
हम तुम्हारे दास;
क्यों हमें फिर कर रहे हो
बार-बार निराश?
बस तुम्हीं कह दो तुम्हारा
है जहाँ अधिवास;
है पहुँचता प्रेम का भी
क्या वहाँ न प्रकाश?

कर रहे कब से तुम्हारे
हम गुणों का गान?
पर तुम्हें भी क्या कभी
आया हमारा ध्यान?
यह बता दो है तुम्हारा
किस भुवन में स्थान?
किस तरह होती वहाँ है
प्रेम की पहचान?

कुछ समझते हों परम
शास्त्रज्ञ ज्ञान-निधान;
पर नहीं उनको तनिक भी
है तुम्हारा ज्ञान।
देख कर यह बन गये हम
अज्ञ मूढ़ महान;
हाय तो भी चित्त में
न हुआ तुम्हारा भान।

आज तक यद्यपि हुई
तुमसे नहीं पहचान;
किन्तु तुम सहृदय सरस हो,
है यही अनुमान।
है अधिक जाता सहा
न वियोग-दुःख महान;
दिव्य - दर्शन दे हमें
कर दो कृतार्थ सुजान।

मार्च, १९२३

मन

बोल रे मन! क्या तुझे है हो गया ?
    क्या कहीं नादान! तू है खो गया ?
या बहुत थक कर किसी तरु के तले,
    तू सुमन की सेज पर है सो गया ?

फँस गया मन ! क्या किसी जंजाल में,
या किसी निर्दय निठुर के जाल में ?
या निराशा-दुःख से बेचैन हो,
तू समाया काल के ही गाल में ?

क्या कहीं तू फँस गया है पाप में,
या कहीं तू घुल रहा है ताप में ?
या कि लोलुप मन ! बँधा है तू कहीं,
कामिनी के कुटिल केश-कलाप में ?

मन ! तनिक बतला कि क्या है मामला,
कौन-सी तुझ पर भला आई बला ?
क्यों भटकता फिर रहा दिन रात है,
सत्य ही क्या हो गया तू बावला ?

मन ! जहाँ जाता सदा रमता वहीं,
लौटने का नाम फिर लेता नहीं।
बन्द कर तू घूमना फिरना सभी,
मैं न भेजूँगा तुझे हरगिज़ कहीं।

यह निगोड़ी आँख है लड़ती सदा,
है कहीं गड़ती कहीं अड़ती सदा।
भग गया मन ! सोच कर क्या तू यही—
आपदा मुझ पर वृथा पड़ती सदा ?

क्या लिया तुझको किसी ने छीन है,
क्या न तू अब रह गया स्वाधीन है ?
मन-विहग ! क्यों तू न उड़ आता यहाँ,
हो गया क्या सर्वथा गति-हीन है ?

चार छै दिन भी नहीं बीते अभी,
तू न रहता शान्त था क्षण भर कभी।
किन्तु अब तू है अचल-सा हो गया,
क्या बदल बातें गईं तेरी सभी ?

चपलता दुख-मूल है सब काल में,
है प्रशंसित मन्द चाल मराल में।
क्या मिलिन्द-समान चंचल मन ! कहीं,
पड़ गया है कण्टकों के जाल में ?

बन्द होता भृङ्ग भी जलजात में,
किन्तु वह होता विमुक्त प्रभात में।
मूढ़ मन! क्या तू फँसा ऐसा कहीं,
छूटता दिन में न और न रात में?

क्या कहीं है क़ैद कारागार में,
या कि डूबा प्रेम-पारावार में?
या पहुँच मन! तू गया है अब वहाँ,
पहुँचता कोई न जिस दरबार में?

लीन होकर क्या जगत के प्यार में,
तू लगा है लोक के उपकार में?
या हृदय के साथ तू भी बह गया,
दीन-दुखियों की नयन-जल-धार में?

जल रहा क्या तू कहीं दुख-दाह में,
या भटकता है किसी की चाह में?
या कि मन! तू जा रहा उस ओर है,
भटकते सब लोग हैं जिस राह में?

हो रहा बदनाम तू संसार में,
मन! कभी रहता न तू स्थिर प्यार में।
क्यों रहित होता न आवागमन से,
लीन हो जगदीश जगदाधार में!

फ़रवरी, १९२४

परिचय

क्षमा कीजिए, अपने मुँह से
हम निज सुयश सुनाते हैं।
पर हम यह विनीतता कैसी
आज यहाँ दिखलाते हैं?
हम तो हरदम ही पद-पद पर
अपना गुण-गण गाते हैं।
आत्म-प्रशंसा करने में हम
कभी न तनिक लजाते हैं।

'क्षमा' शब्द किस भाँति हमारे
मुख से आज निकल आया ?
इस बावली जीभ ने हमसे
यह क्या भ्रम-वश कहलाया ?
इसने की है भूल बड़ी ही
और काट भी दी जाती।
जो कटु वचनों के कहने में
काम न यह हरदम आती।

अच्छा सुनिए, चरित हमारा
सब प्रकार से न्यारा है।
जो कुछ निन्द्य नीच हैं जग में
वह सब हमको प्यारा है।
कहीं किसी का भला न होता
कभी हमारे द्वारा है।
पुण्य-पाप-पचड़ा है झूठा
यह सिद्धांत हमारा है।

पर-पीड़न के सिवा जगत में
हमें और कुछ काम नहीं।
बिना दिये कुछ दुःख किसी को
मिलता है आराम नहीं।

होती विश्व-अशुभ-चिन्तन में
नित्य सुबह से शाम हमें।
हम यों ही बदनाम रहेंगे
नहीं चाहिए नाम हमें।

हमको अपना स्वार्थ जगत में
सबसे बढ़ कर प्यारा है।
और उसी को हमने अपना
इष्टदेव निर्धारा है।
उसके लिए पाप करने में
हमें तनिक सङ्कोच नहीं।
वास्तव में हम कभी मानते
पोच कर्म को पोच नहीं।

अपने मन के भाव कभी हम
प्रकट न होने देते हैं।
तो भी उनको लोग न जाने
जान किस तरह लेते हैं?
ऊपर से हम सदा साधुता
सज्जनता दिखलाते हैं।
पर तथापि हम क्रूर कुटिल ही
हरदम ही कहलाते हैं।

औरों का उत्कर्ष देख कर
हम सदैव ही जलते हैं।
निपट निर्बलों को हम हरदम
पैरों तले कुचलते हैं।
किया किसी ने जो चूँ तक भी
तो हम कभी न सहते हैं।
यदि यह है क्रूरता, शूरता
तो फिर किसको कहते हैं?

जो जन नहीं नीच कर्मों में
साथ हमारा देते हैं।
उनको अपना सहज शत्रु हम
मान सर्वदा लेते हैं।
जो हम बल-पौरुष आदिक में
उनसे पार न पाते हैं।
तो करके छल-छद्म हज़ारों
नीचा उन्हें दिखाते हैं।

यदि आवश्यक हुआ कभी तो
हम भी मित्र बनाते हैं।
किन्तु निभाते नहीं कभी हम
इस प्रकार के नाते हैं।

जब तक काम रहा तब तक तो
    प्रेम-भाव दिखलाते हैं।
स्वार्थ सिद्ध होने पर उनसे
    हम मुँह सदा छिपाते हैं।

हमें किसी की क्लेश-कथा के
    सुनने का अवकाश नहीं।
यदि हो भी अवकाश कभी तो
    रहता है अभिलाष नहीं।
कैसे हो अभिलाष भला जब
    उर में दया-विकास नहीं?
व्यथा दूसरों को भी होती
    हमको यह विश्वास नहीं।

किसी मनुज पर जब दल के दल
    दुख-बादल घिर जाते हैं।
कुछ भी लाभ हमें न भले हो
    तो भी हम सुख पाते हैं।
हाँ, यह सच है हम भी मौखिक
    सहानुभूति दिखाते हैं।
किन्तु हृदय में हर्षित होकर
    मन ही मन मुसकाते हैं।

यदि करते अपराध कभी हम
उसको सदा छिपाते हैं।
और दूसरों को कौशल से
दोषी हम ठहराते हैं।
जब दूसरे हमारे बदले
कारागृह को जाते हैं।
तब हम अपनी कार्य-सिद्धि पर
फूले नहीं समाते हैं।

परहित करने को ईश्वर ने
हमें करों को दिया नहीं।
वृद्धि देखने को औरों की
हमें नयन-युत किया नहीं।
सुयश दूसरों का सुनने को
हमें मिले ये कान नहीं।
कहते हैं परमार्थ किसे सब
हमको इसका ज्ञान नहीं।

कभी हमारे हृदय-धाम में
दया निवास न करती है।
क्या आने में पास हमारे
वह भी मन में डरती है?

कभी भूल कर भी विवेक से
काम नहीं हम लेते हैं।
जान-बूझ कर सदा न्याय का
गला घोंट हम देते हैं।

पैर हमारे तब जमते हैं
जब दूसरे उजड़ते हैं।
तभी फूलते फलते हैं हम
जब दूसरे बिगड़ते हैं।
जलता है औरों का दिल जब
और उन्हें दुख मिलता है।
तभी हमारे हृदय-कमल का
एक-एक दल खिलता है।

औरों का रोना कराहना
हमें बहुत प्रिय लगता है।
और लोग जब लुटते हैं तब
भाग्य हमारा जगता है।
सदा फूँकते औरों के घर
जहाँ-जहाँ हम बसते हैं।
जब वे विपज्जाल में फँसते
तब हम हरदम हँसते हैं।

दीन देख कर कभी किसी पर
हम न दया दिखलाते हैं।
अवसर मिलने पर हम सबको
सदा हानि पहुँचाते हैं।
किन्तु शत्रुता खुल्लमखुल्ला
करने में हम डरते हैं।
सतत ओट में ही रह कर हम
चोट सभी पर करते हैं।

जो हम जग में जन्म न लें तो
टिके भला अज्ञान कहाँ ?
निर्दयता नीचता निठुरता
ये सब पावें स्थान कहाँ ?
मद, मत्सर, मालिन्य, आदि का
कौन यहाँ फिर मान करे ?
मोह-वारुणी का फिर सुख से
कौन सदा ही पान करे ?

यदि मरने के बाद कहीं हम
देवलोक को जावेंगे।
तो हम सभी बुरे भावों को
वहाँ शीघ्र फैलावेंगे।

दुर्जनता, क्रूरता, कुटिलता,
सबको ही सिखलावेंगे।
करके यत्न सुरों को भी हम
पूरे असुर बनावेंगे।

सज्जनता सुख-शान्ति-नाशिनी
चिर-वैरिणी हमारी है।
वही हमारे उन्नति-पथ में
विघ्न डालती भारी है।
जो हम उसका मूलोच्छेदन
कर लें किसी यत्न द्वारा;
तो निष्कण्टक राज्य हमारा
हो जावे जग में प्यारा।

सदा हमारे द्वारा जग का
अमित अहित ही होता है।
इसे सोच कर स्वयं हमारा
अन्तस्तल भी रोता है।
किन्तु अन्तरात्मा का कहना
कभी नहीं हम सुनते हैं।
ईश्वर से भी बढ़ बुद्धि में
हम अपने को गुनते हैं।

कभी-कभी तो स्वयं हमारा
हृदय हमीं को छलता है।
देख हमारी निर्दयता को
वह भी अहा ! दहलता है।
पर हम यही सोचते हैं बस
यह उसकी निर्बलता है।
जो पत्थर का बना हुआ है
वह क्या कभी पिघलता है ?

कभी-कभी फिर ये आँखें भी
कमज़ोरी दिखलाती हैं।
हृदय-विदारक दृश्य देख कर
दया-द्रवित हो जाती हैं।
जो इनको अपना सब गौरव
इस प्रकार से खोना था;
तो फिर इन्हें हमारी आँखें
नहीं भूल कर होना था।

जब सहसा आकर हम पर भी
घनी दुख-घटा घिरती है।
अकस्मात् तब अहो ! हमारी
चित्त-वृत्ति कुछ फिरती है।

एक नवीन भाव का सोता
उर में बहने लगता है।
स्वयं हमारा ही मुँह हमको
धिक् धिक् कहने लगता है।

जब आता है अन्त समय तब
भूत हमारे भगते हैं।
तब हम मानों खोल दृगों को,
अनायास ही जगते हैं।
व्याकुल हो अनुताप-ताप से
हम अतीव दुख पाते हैं।
इसी दशा में इस दुनिया से
हम सदैव ही जाते हैं।

जुलाई, १६२४

सुख-दुःख

मुख-सरोज विकसित है सुन्दर,
दृग-सरसिज में है पानी।
सभी समय रहती यह संसृति
सुख-दुख से है दीवानी।

विकसित होकर मुरझाती हैं
लता-वल्लियाँ कानन में।
हँसती-रोती है क्षण-क्षण में
सौदामिनी सदा घन में।

गाते कभी, कभी रोते हैं
बेचारे विहङ्ग वन में।
जो है जहाँ वहीं मिलता है
सुख-दुख उसको जीवन में।

कुछ मिलते-जुलते-से जग में
दिखते हैं सदैव सुख-दुख।
देख लीजिए, करुण-अरुण हैं
प्रात और सन्ध्या के मुख।

अप्रैल, १६३६

वेदना

नित हृदय जलातीं

अग्नि-सी वेदनायें।

मुझ पर अब सारी

आ पड़ी हैं बलायें।

सब तरफ़ मुझे है

दृष्टि आता अँधेरा।

निशि-दिन रहता है

खिन्न ही चित्त मेरा।

दिन-दिन तन मेरा
सूखता जा रहा है।
जलद-पटल दुःखों
का घिरा आ रहा है।
मन अब लगता है
हा! कहीं भी न मेरा।
दृग-युग-गृह में है
अश्रु-धारा-बसेरा।

अगणित जग में हैं
वस्तुएँ चित्तहारी।
पर तनिक न कोई
है मुझे मोदकारी।
हरदम मुझको है
घोर चिन्ता सताती।
अहह! तनिक निद्रा
भूल के भी न आती।

प्रकृति नित नई है
मञ्जु शोभा दिखाती।
निज रुचिर छटा से
जी सभी का लुभाती।

सब तरफ अनोखे
दृश्य हैं दृष्टि आते।
पर तनिक मुझे वे
हैं नहीं आज भाते।

दुखमय दिन मेरे
ये कटें हाय! कैसे?
अब पल-पल होते
ज्ञात ये कल्प जैसे।
अति दुखद मुझे है
यामिनी भी कराला।
उर-घन-चपला-सी
है बनी दुःख-ज्वाला।

हृदय हर रहे हैं
फूल के फूल नाना।
मन खग-कुल का है
मोहता मञ्जु गाना।
गिरि-वन-छवि प्राणों
को सदा है लुभाती।
पर मुझ दुखिया को
नेक भी है न भाती।

निज दुख तुझसे क्यों
है भुलाया न जाता ?
सुखमय गृह में भी
शान्ति तू है न पाता।
उड़ कर तुझको ले
मैं कहाँ चित्त! जाऊँ ?
दुखद जलन तेरी
हाय! कैसे मिटाऊँ ?

हृदय! नित तुझे मैं
खूब हूँ बोध देता।
दुख विफल निरा है
क्यों न तू सोच लेता ?
निज मति-धृति क्यों तू
व्यर्थ ही खो रहा है ?
तनिक निरख, तेरा
हाल क्या हो रहा है।

हृदय! नयन मेरे
नित्य अत्यन्त रोते।
अविरल जल-धारा
से तुझे खूब धोते।

पर शमित न होती
नेक दुःखाग्नि तेरी।
जल कर अब होगा
क्षार तू है न देरी।

विकल तुम भला क्यों
हो गये प्राण! मेरे!
दुख-घन रहते हैं
क्या तुम्हें नित्य घेरे?
बस दृढ़ बन जाओ
क्यों वृथा धैर्य खोते।
विचलित दुख में क्या
हैं कभी धीर होते?

सतत हृदय में तू
वेदना! जन्म पाती।
तज कर उसको तू
है कहीं भी न जाती।
पर अहह! उसी को
नित्य तू है जलाती।
शिव! शिव! इतनी तू
नीचता क्यों दिखाती?

अप्रैल, १९२५

मातृ-भूमि

हम सुख पाते तेरे सुख के दिवस में ही,
यश है हमारा बस तेरे शुभ्र यश में।
घेरे दुख हमको भले ही हों घनेरे तो भी,
रहते निमग्न हम तेरे प्रेम-रस में।
तन पर तेरा अधिकार है अपार मातु,
मन भी हमारा रहता है तेरे वश में।
तुझसे उऋण हम होते हैं कदापि नहीं,
तेरा अन्न-जल है समाया नस-नस में।

जननी जगत में अवश्य जन्म देती हमें,
पर निज गोद में तो तू ही हमें लेती है।
तू ही मातृ-मेदिनी ! अपार भव-सागर में,
जीवन-जहाज़ को हमारे नित्य खेती है।
उदर-दरी को भर हमको जिलाती जो है,
प्रेम-वश तू ही उपजाती वह खेती है।
जिनको विलोक होते चञ्चल दृगञ्चल हैं,
भर-भर अञ्चल वे रत्न हमें देती है।

अगस्त, १९२७

भाग्य-लक्ष्मी

सौभाग्य-श्री हमारी
सुख-मूल मोददायी।
जब से गई यहाँ से
फिर लौट कर न आई।
क्यों रुष्ट वह हुई थी,
क्या तुष्ट अब न होगी?
बीतीं अनेक सदियाँ
खलती बहुत जुदाई।

बल से उसे किसी ने
क्या हर लिया यहाँ से ?
या मोह-वश हमी से
वह थी गई चिढ़ाई ?
किंवा किसी कुटिल ने
छल से उसे फँसाया ?
या मुग्ध हो किसी पर
वह हो गई पराई ?
निज सब सहेलियाँ भी
वह साथ ले गई थी।
वह सुजनता हमारी
श्रम-शीलता सचाई।
वह धीरता कहाँ है,
गम्भीरता कहाँ है ?
वह वीरता कहाँ है,
है वह कहाँ बड़ाई ?
क्या हो गईं कलायें,
कौशल सभी हमारे ?
किसने शताब्दियों की
ली छीन सब कमाई ?
था ज्ञानवान हम-सा
कोई नहीं जगत में।
अज्ञान ने यहाँ है
जड़ किस तरह जमाई ?

धन-धान्य-पूर्ण हरदम
यह देश था हमारा।
यह दीनता कहाँ से
हमने यहाँ बुलाई ?
हम विश्व-बन्धुता के,
सब काल थे पुजारी।
यह फूट अब कहाँ से
आकर यहाँ समाई ?
ज्यों ही गई यहाँ से
सुख-सद्म भाग्य-लक्ष्मी।
त्यों ही यहाँ समय ने
थी लूट-सी मचाई।
उत्पन्न हो गये फिर
बहु और देश-द्रोही।
कैसे कहें कि किसने
क्या चीज़ कब चुराई ?
दुर्योग क्यों अड़ा है,
दुख-दैन्य क्यों खड़ा है ?
दुर्दैव से कभी से
हम कर रहे लड़ाई।
किन-किन विपत्तियों का
हम सामना करें अब ?
की एक साथ सबने
हम पर यहाँ चढ़ाई।

सब कुछ पलट गया है
पलटे न दिन हमारे।
सौभाग्य पर हमारे
किसने नज़र लगाई ?
मन में तनिक न बल है
तन भी हुआ शिथिल है।
जीवन हुआ विफल है
धन में घुसी बुराई।
मद - मोह - द्रोह सबमें
हैं अब यहाँ समाये।
है स्वार्थ सिर घुमाये
देता न साथ भाई।
हमको भले बुरे का
अब ज्ञान कुछ नहीं है।
शिशु हो गये सभी हम
किस भाँति हो भलाई ?
लडना अधर्म द्वारा
अब धर्म रह गया है।
है व्यर्थ ही रुधिर की
जाती नदी बहाई।
उद्धार की लगी है
आशा सुधार ही से।
यह बात क्या अभी तक
हमने न जान पाई ?

गृह-देवियाँ यहाँ हैं
पाती नहीं प्रतिष्ठा।
किस भाँति भाग्य-लक्ष्मी
दे फिर यहाँ दिखाई ?
क्या हीनता हमारी
अब है छिपी किसी से ?
क्या कालिमा गगन की
छिपती कभी छिपाई ?
निज जन्म-भूमि की अब
आकर दशा निहारें।
श्रीराम वह कहाँ हैं,
हैं वह कहाँ कन्हाई ?

नवम्बर, १९२५

अनाथ

देख कर ही है इन्हें, होती बड़ी मन में व्यथा;
क्या न हैं ये देहधारी करुण रस ही सर्वथा ?
हाय ! भर आता हृदय है और रुकता है गला;
इन अनाथों की कथा कैसे कहे कोई भला ?

इन अभागों के अभागे दृग भरे हैं नीर से;
वे दयामय के हृदय में चुभ रहे हैं तीर-से।
हो रहे चञ्चल व्यथा से ज्यों सरोज समीर से;
हैं किसी को खोजते मानो सतृष्ण अधीर से।

जो दिलाती याद है इनके मरे माँ-बाप की;
छाप-सी इनके मलिन मुख पर लगी सन्ताप की।
है बहुत ही साफ, उसको देख सकते हैं सभी;
चन्द्रमा की कालिमा भी क्या भला छिपती कभी?

चल बसे माता-पिता इन बालकों को छोड़ के;
तज दिया इनको सभी ने प्रेम-बन्धन तोड़ के।
किन्तु ये दुख भोगने को हाय! जीते रह गये;
निज दृगों के आँसुओं को नित्य पीते रह गये।

है न कुछ अवलम्ब इनको विश्व-पारावार में;
बह रहे हैं तृण-सदृश उसकी प्रखरतर धार में।
दुधमुँहे बच्चे कहाँ ये और वे लहरें कहाँ?
इस दशा में ये न जाने जी रहें कैसे यहाँ?

ये अभागे जन्म से ही दुःख के पाले पड़े;
देखिए, सब अङ्ग इनके क्या न हैं काले पड़े ?
हैं भटकते रात-दिन, हैं पैर में छाले पड़े;
हाय ! तो भी अन्न के रहते इन्हें लाले पड़े।

निपट नन्हें अङ्ग इनके सुमन-से सुकुमार हैं;
हैं निरे नादान ये सब तौर से लाचार हैं।
किन्तु इनके शीश पर गिरि-तुल्य दुख का भार है;
दुष्ट निर्दय दैव को धिक्कार है धिक्कार है।

है नसीब हुआ कभी न इन्हें खुशी से खेलना;
बालपन में ही पड़ा इनको विषम दुख झेलना।
अधखिले ही जब रहे सुन्दर सुमन कोमल निरे;
हाय ! उन पर व्योम से आकर तभी ओले गिरे।

मौज से खाना थिरकना कूदना हँसना सदा;
इन अभागों को कभी इस जन्म में न रहा बदा।
लोग कहते हैं किसे सुख, यह न इनको ज्ञात है;
पेट का ही पीटना इनके लिए दिन रात है।

पड़ रहा जाड़ा कड़ा है ये निपट पट-हीन हैं;
वस्त्र लायें ये कहाँ से हाय ! ये अति दीन हैं।
पवन-कम्पित मृदु लता-सी कँप रही सब देह है;
लें शरण जाकर कहाँ इनके न कोई गेह है ?

यह कठोर मही इन्हें है सेज सोने के लिए;
हाय ! सोने के लिए है, या कि रोने के लिए।
लोटने से धूल पर मिलती इन्हें क्या शान्ति है ?
शान्ति तो मिलती नहीं क्या दूर होती श्रान्ति है ?

क्या इन्हें लू की लपट है क्या कड़ी बरसात है;
क्या शिशिर की शीत इनको क्या भयङ्कर रात है ?
हों न क्यों ओले बरसते पर करें ये हाय ! क्या ?
भीख माँगें जो न जाकर तो मरें निरुपाय क्या ?

माँगने में भीख इनको क्या भला अब लाज है ?
याचना को छोड़ इनको क्या सहारा आज है ?
आत्म-गौरव भाव इनके कर चुका विधि चूर है;
किन्तु तो भी वह न इनके क्लेश करता दूर है।

जब अनाथ अभाग्यवश होता कभी बीमार है;
तब कहे किससे किसे उससे तनिक भी प्यार है?
कौन औषधि दे दया कर जो उसे दरकार है;
रोग अपना आप ही करता उचित उपचार है।

क्या न इनको देखकर दृग फेर लेते हैं सभी;
दृष्टि इन पर प्रेम की क्या डालता कोई कभी?
सान्त्वना भी शोक में देता इन्हें कोई नहीं;
है न इनके आँसुओं का पोंछनेवाला कहीं।

रह गया कोई न इनका ये किसे अपना कहें;
अब भला संसार में किसके सहारे ये रहें?
तज चुके सब साथ इनका, ये नितान्त अनाथ हैं,
है भरोसा बस उन्हीं का जो सभी के नाथ हैं।

जून, १९२४

पड़ रहा जाड़ा कड़ा है ये निपट पट-हीन हैं;
वस्त्र लायें ये कहाँ से हाय ! ये अति दीन हैं।
पवन-कम्पित मृदु लता-सी कँप रही सब देह है;
लें शरण जाकर कहाँ इनके न कोई गेह है ?

यह कठोर मही इन्हें है सेज सोने के लिए;
हाय ! सोने के लिए है, या कि रोने के लिए।
लोटने से धूल पर मिलती इन्हें क्या शान्ति है ?
शान्ति तो मिलती नहीं क्या दूर होती श्रान्ति है ?

क्या इन्हें लू की लपट है क्या कड़ी बरसात है;
क्या शिशिर की शीत इनको क्या भयङ्कर रात है ?
हों न क्यों ओले बरसते पर करें ये हाय ! क्या ?
भीख माँगें जो न जाकर तो मरें निरुपाय क्या ?

माँगने में भीख इनको क्या भला अब लाज है ?
याचना को छोड़ इनको क्या सहारा आज है ?
आत्म-गौरव भाव इनके कर चुका विधि चूर है;
किन्तु तो भी वह न इनके क्लेश करता दूर है।

जब अनाथ अभाग्यवश होता कभी बीमार है;
तब कहे किससे किसे उससे तनिक भी प्यार है ?
कौन औषधि दे दया कर जो उसे दरकार है;
रोग अपना आप ही करता उचित उपचार है।

क्या न इनको देखकर दृग फेर लेते हैं सभी;
दृष्टि इन पर प्रेम की क्या डालता कोई कभी ?
सान्त्वना भी शोक में देता इन्हें कोई नहीं;
है न इनके आँसुओं का पोंछनेवाला कहीं।

रह गया कोई न इनका ये किसे अपना कहें;
अब भला संसार में किसके सहारे ये रहें ?
तज चुके सब साथ इनका, ये नितान्त अनाथ हैं,
है भरोसा बस उन्हीं का जो सभी के नाथ हैं।

जून, १९२४

विधवा

हे प्राणों के प्राण,

हृदय के हृदय हमारे !

मन-मानस के हंस;

वंश के भूषण प्यारे !

होते थे तुम कभी

न पल भर हमसे न्यारे ।

फिर कैसे तुम हमें

छोड़ कर आज सिधारे ?

कहाँ जायँ, क्या करें,
कहाँ तुमको हम पावें ?
मन की दुस्सह जलन
हाय ! किस भाँति मिटावें ?
बुझने को यह आग
नहीं, यह भूल न जावें ।
चाहे जितना नीर
नयन-नीरद बरसावें ।

जब तुम हमको छोड़,
यहाँ से नाथ ! पधारे ।
चले गये थे साथ
तुम्हारे प्राण हमारे ।
किन्तु न जाने लौट
कहाँ से ये फिर आये ?
भोगें अब यातना
व्यर्थ क्यों हैं घबराये ?

है अपहृत हो गया;
हृदय ! तेरा धन प्यारा ।
अब इस जग में तुझे
रह गया कौन सहारा ?

तो भी अब तक रुकी
नहीं चञ्चल गति तेरी।
क्या होनी है और
अधिक अब दुर्गति तेरी ?

होगी हम-सी और
कौन इस भाँति अभागी ?
आई मूर्च्छा हमें
किन्तु वह भी झट भागी।
क्यों न सदा रह गये
मुँदे ही नयन हमारे ?
क्या देखेंगे भला
यहाँ अब ये बेचारे।

अब हम किसके लिए
नाथ ! शृङ्गार करेंगी ?
किस प्रकार यह शेष
आयु हम पार करेंगी ?
कब तक हम इस भाँति
आह ही आह भरेंगी ?
तड़प-तड़प जल-हीन
मीन-सी हाय ! मरेंगी।

प्यारे थे जो तुम्हें
जलद की शोभा धारे।
वे ही लम्बे केश
कटेंगे आज हमारे।
इनका कटना कहो,
भला किस भाँति सहोगे?
भृङ्गावलि की किसे
नाथ! उपमा अब दोगे?

ललित सलोनी लता
समझ कर हमको मन में।
भृङ्ग-वृन्द जब हमें
सतावेगा उपवन में।
आकर उससे कौन
बचावेगा तब हमको?
बाहु-जाल में कौन
छिपावेगा तब हमको?

कौन कहेगा प्राण-
नाथ प्यारी अब हमको?
सिखलावेगा कौन
चित्रकारी अब हमको?

कौन हमारी हृदय-
वल्लरी को सींचेगा ?
कौन हमारी आँख
अचानक अब मींचेगा ?

चुने-चुने वे गीत
सरस सुन्दर मनभाये।
जिन्हें तुम्हीं ने हमें
प्रेम से थे सिखलाये।
अब हम किसको नाथ !
सुनावेंगी निज मुख से ?
किसके आगे बीन
बजावेंगी नित सुख से ?

सुन कर कहते 'प्रिये'
हमें तुमको अति सुख से।
'प्रिये' 'प्रिये' रट रहा
कीर अब भी निज मुख से।
करती उर में छेद
आज उसकी वह बोली।
मानो है मारता
हृदय में कोई गोली।

हमें खिझाना और
तुम्हारा हमें मनाना।
बात बनाना बात-
बात में हमें झपाना।
हाय! स्वप्न के सदृश
हो गईं वे सब बातें।
आवेंगे वे दिवस
न आवेंगी वे रातें।

किस निर्दय ने हृदय-
रत्न! है तुम्हें चुराया?
किस प्रकार रोकती,
तनिक भी जान न पाया?
अगर जानतीं तुम्हें
कदापि न जाने देतीं।
मन-मन्दिर में तुम्हें
छिपाकर हम रख लेतीं।

अगर जानतीं नाथ!
चले तुम यों जाओगे।
और नहीं फिर कभी
लौट कर तुम आओगे।

तो हम करतीं बन्द
तुम्हें अपनी पलकों में।
अथवा रखतीं तुम्हें
फूल-सा निज अलकों में।

किस प्रकार हे नाथ!
मृत्यु ने तुम्हें लुभाया?
क्या न हमारा ध्यान
तनिक भी तुमको आया?
विश्व-विदित तुम सदा
सदाचारी थे भारी।
प्यारी कैसे हुई
तुम्हें वह कुलटा नारी?

अब तक हमने कभी
नहीं विपदा को जाना।
किन्तु आज विकराल
रूप उसका पहचाना।
मृदुल लता जो नहीं
धूप भी सह सकती है।
वह क्या जीवित प्रबल
अनल में रह सकती है?

कभी तुम्हारा विरह
नहीं हम सह सकती थीं।
तुमको देखे बिना,
न पल भर रह सकती थीं।
फिर कैसे हम सदा
तुम्हारे बिना रहेंगी ?
चिर-वियोग की विषम
व्यथा किस भाँति सहेंगी ?

नहीं किसी को प्रीति
अटल पलों पर रहती ?
जब हम तुमसे कभी
हँसी में थीं यों कहती।
तुम उसका प्रतिवाद
सदा करते थे भारी।
भूल गये क्या नाथ !
आज वे बातें सारी ?

करो न तनिक विलम्ब
हृदय का ताप मिटाओ।
बहुत रो चुकीं नाथ !
हमें मत और रुलाओ।

हम व्याकुल हैं हमें
व्यर्थ ही मत कलपाओ।
थे सदैव तुम सदय,
अदयता मत दिखलाओ।

तुम्हें कोसतीं व्यर्थ,
नहीं कुछ दोष तुम्हारा।
दुष्ट दैव ने किया
आज यह हाल हमारा।
देकर पहले सौख्य
सभी विधि ने है लूटा।
दिया हमें था भाग्य
उसी ने ऐसा फूटा।

अब सारा संसार
हमें लगता है सूना।
जँचता है वह विजन
विपिन का ठीक नमूना।
यह गृह हमको स्वर्ग-
सदन-सा था सुखदायी।
पर है रौरव-सदृश
आज अतिशय दुखदायी।

व्यथा - कथा - सी हुईं
चूड़ियाँ ये वेचारी।
नागिन-सी डस रहीं
हमें ये लटें हमारी।
हुआ हमारा भाल-
विन्दु भी अब निष्फल-सा।
जला रहा है शीश
आज सिन्दूर अनल-सा।

लज्जित जिनकी ज्योति
देख होते थे तारे।
क्या होंगे ये रत्न-
जटित आभूषण सारे ?
सुन्दरता का मिटा
प्रयोजन है अब सारा।
जीवन भी है भार-
रूप हो गया हमारा।

खोया है जो रत्न
मिलेगा कभी नहीं वह।
झड़ गया जो सुमन
खिलेगा कभी नहीं वह।

व्यथित हमारा हृदय
शान्ति कैसे पावेगा ?
बीत गया सुख-समय
न वह फिर से आवेगा।

छाया ऐसा अन्धकार
जो नहीं हटेगा।
आया ऐसा विपत्-
काल जो नहीं कटेगा।
मन में ऐसा शोक
समाया जो न घटेगा।
टूक - टूक हो गया
हृदय, क्या और फटेगा ?

भाषा - द्वारा व्यक्त
न होगी व्यथा हमारी।
स्वय व्यथा हो सदा
कहेगी कथा हमारी।
निद्रावश अब नहीं
कभी ये नयन मुँदेंगे।
आवेगी जब मृत्यु
तभी ये नयन मुँदेंगे।

अगस्त, १६२४

तुलसीदास

हो सकता है सूर्य तुम्हारे
तुल्य किस तरह तुलसीदास ?
होने पर भी अस्त तुम्हारा
छाया जग में अतुल प्रकाश ।
दिन-दिन अधिकाधिक आलोकित
होता है साहित्याकाश ।
कविता-कला-कमलिनी का तुम
करते हो दिन-रात विकास ।

भक्ति-भाव-भांडार तुम्हारा
विमल उदार हृदय-कासार।
कैसा था आगार प्रेम का,
परम ज्ञान का पारावार!
उसमें ऐसे कंज खिले थे
सरस अलौकिक सभी प्रकार।
जिनके सौरभ से आमोदित
है सारा हिन्दी-संसार।

हमको तुमने दिया न केवल
काव्य-रत्न का ही उपहार।
राम-चरित-मानस में तुमने
भरा दर्शनों का भी सार।
भव-सागर तरने को तुमने
की थी एक नाव तैयार।
यह अपार संसार उसी पर
सुख से उतर रहा है पार।

तुमने किया त्याग पत्नी का
उस पर समझ प्रेम निज भ्रांत।
सन कर राम-भक्ति के रस में
तुम हो गये विरक्त नितांत।

पर तो भी क्या हुई तुम्हारी
श्रृङ्गारिक वासना न शान्त ?
किया अन्त में कपट प्रिया से,
बनकर कविता-कान्ता-कान्त।

जिसकी कीर्त्ति-कौमुदी का है
जग में फैला हुआ प्रकाश।
उसके ऊपर कुटिल काल का
भी होता है विफल प्रयास।
कहीं नहीं तुम गये हुआ है
भौतिक तन का केवल नाश।
ग्राम-ग्राम में धाम-धाम में
अब भी यहाँ तुम्हारा वास।

अगस्त, १९२४

कुछ का कुछ

हम यह आशा करके मन में
हुए मुदित थे अपने आप।
बन करके शीतांशु हरेगा
वह जीवन का सब संताप।
पर क्या बतलावें अभाग्यवश
हुई सभी विधि उलटी बात।
हाय! तीक्ष्ण किरणों से हमको
जला रहा है वह दिनरात।

जिसको हमने निज पीडा का
समझा था सुखमय उपचार ।
हाय ! वही हो गया हमारी
सभी व्याधियों का आधार ।

लगता था कमनीय मनोहर
कैसा प्रेम-रूप उद्यान ?
उस पर ऐसे मुग्ध हुए हम,
रहा न अपना भी कुछ ध्यान ।
पर जैसा सोचा था मन में,
हुआ नहीं वैसा परिणाम ।
काँटे तो चुभ गये हृदय में,
हाथ न आया कुसुम ललाम ।

सितम्बर, १९२३

जल से जलज-सदृश छलबल से
　　अलग सतत ये रहते।
सहते हैं सब दुःख, किन्तु हैं
　　सत्य सदा ही कहते।
कैसा ही हो काम कठिन, पर
　　ये न कभी हैं डरते।
अविरत श्रम-रत रह कर ही ये
　　उदर-भरण हैं करते।

दुनिया सब के झगड़े इनके
　　पास न कभी फटकते।
कभी दूसरों की आँखों में
　　ये हैं नहीं खटकते।
इनको औरों के ठगने के
　　यत्न नहीं हैं आते।
रहते हैं सन्तुष्ट उसी से
　　जो हैं रोज़ कमाते।

खेतों और खदानों में ये
　　काम नित्य हैं करते।
साथ जङ्गली जीवों के ये
　　वन में सदा विचरते।

रूखा-सूखा जो पा जाते,
वही रात को खाते।
ज्यों हीं हुई सुबह त्यों हीं ये
फिर श्रम में डट जाते।

देखो, करके काम शाम को
अब ये लौटे आते।
तनिक थकावट का हम इनमें
चिह्न नहीं हैं पाते।
किन्तु दिवाकर थके हुए-से
नभ में बदन छिपाते।
आते इनके साथ सदा वे,
और साथ ही जाते।

क्या घर आकर श्रान्त-क्लान्त ये
खाकर हैं सो जाते?
नहीं, नहीं, और ही रीति से
ये हैं रात बिताते।
नाच और गाकर निशि में ये
हैं आनन्द मचाते।
हम भी इनका ढङ्ग देखकर
दङ्ग सदा रह जाते।

इनको घरवालियाँ काम में
नित्य योग हैं देती।
नाच और गाने में भी वे
सदा भाग हैं लेती।
नृत्य और सङ्गीत-कुशलता
उन्हें कहाँ से आती?
तो भी उनकी सरल कला ही
सबको सदा रिझाती।

झूम-झूम कर गोंड़ पुरुष ये
गाते और बजाते।
देख नारियों की उमङ्ग ये
और दङ्ग हो जाते।
वस्त्ररहित भी भीति शीत की,
तनिक न मन में लाते।
शिशिर-यामिनी के पाले का
ये हैं गर्व छुड़ाते।

देख रहे यह दृश्य चकित से
शीत - विकम्पित तारे।
कान्ति-हीन लज्जा से शशि भी
है मलीन तन धारे।

अपने मन का हाल मित्र ! हम
किस प्रकार बतलावें ?
बस अब यही सूझता हमको,
चुप रह कर सो जावें।

, १९२३

वसन्त

जैसे जब मुदमयी मनुज को
तरुणावस्था है आती;
बाल्य-काल की चञ्चलता तब
स्वयं नहीं है रह जाती।
वैसे ही आई मुददायी
जब वसन्त की ऋतु प्यारी;
हुई शीत की व्यथा सर्वथा
दूर दुःखकारी सारी।

बदल गई है प्रकृति, समय ने
भी अब पलटा खाया है;
फिर से सभी वनस्पतियों में
नव-जीवन-सा आया है।
जिधर देखिए, उधर नयापन
ही सर्वत्र समाया है;
नये दृश्य हैं, नये भाव हैं,
नया रङ्ग अब छाया है।

चल कर शीतल सुमन-सुवासित
पवन हृदय अब हरती है;
करस्पर्श के सदृश प्रिया के
तन अति पुलकित करती है।
फूलों के मिस लतिकायें सब
मन्द-मन्द मुसकाती हैं;
पल्लव-रूपी पाणि हिला कर,
मन के भाव बताती हैं।

कोकिल कूक-कूक कर बरबस
सबका चित्त चुराते हैं;
वन-उपवन में सुधा-स्रोत की
निर्मल धार बहाते हैं।

सुख से भ्रमर कमल-कानन में
भ्रमरी-सहित विचरते हैं;
खिले हुए शतदल स्वागत-सा
उनका हँस-हँस करते हैं।

उद्यानों की आज देखिए,
कैसी छटा निराली है?
नये पल्लवों से आभूषित
मन मोहती द्रुमाली है।
भाँति-भाँति के फूल खिले हैं
सफल दृष्टि जो कर देते;
विविध विहङ्ग-कुलों के गाने
किसका हृदय न हर लेते?

फूले हुए सरों में सरसिज
मन्द-मन्द हैं झूम रहे;
मधु पीकर मधु-मत्त मधुव्रत
उन्हें प्रेम से चूम रहे।
महा मनोहर पीले-पीले
चम्पक हैं मन मोह रहे;
वनस्थली के स्वर्णाभूषण
के समान हैं सोह रहे।

हैं अनार-कचनार मनोहर
अब अपार शोभा धारे;
बकुल रसाल अशोक आदि भी
फूल रहे प्यारे-प्यारे।
बाल-सूर्य-सम लाल-लाल ये
किंशुक किसे न भाते हैं?
दावानल का भ्रम वसन्त में
भी मन में उपजाते हैं।

, १६१५

जूही की कली

जूही की मृदु मञ्जु कली।
अपनी कोमलता के घर में
लाड़-प्यार से सदा पली।
करती थी निज प्राण निछावर
उस पर भ्रमरों की अवली।
किन्तु छोड़ निज जन्म-भूमि वह
बिकती है अब गली-गली।

मार्च, १९३७

सहचरी

लेकर मेरे साथ जन्म जग में वह आई,
उसी समय से बनी सहचरी वह मनभाई।
धीरे-धीरे बड़ा हुआ मैं जैसे-जैसे,
वह भी बढ़ती गई बराबर वैसे-वैसे।

वह मेरे ही संग सदा खेला करती है,
मेरे बाधा-विघ्न सभी झेला करती है।
जाता हूँ मैं जहाँ वहाँ वह भी जाती है,
फिर मेरे ही साथ लौट भी वह आती है।

मुझ पर उसका प्रेम हुआ है ऐसा भारी,
पल भर मुझसे कभी नहीं होती वह न्यारी।
घटता-बढ़ता प्रेम सभी का नद के जल-सा,
पर उसका अनुराग अटल है अचल अचल-सा।

मैं न चाहता, किन्तु मुझे वह घेरे रहती,
मेरी सब फटकार मौन रह कर है सहती।
हरदम मेरे साथ-साथ सब कहीं विचरती,
है ऐसी वह ढीठ किसी से कभी न डरती।

रहती पीछे कभी, कभी आगे वह आती,
है चपला-सी चपल तनिक भी नहीं लजाती।
धोखे से वह कभी मुझे करती चुंबन-सा,
करती मेरा कभी प्रेम से आलिङ्गन-सा।

वह है सचमुच कौन, अभी मैं जान न पाया,
अपना परिचय कभी न उसने मुझे बताया।
है पिशाचिनी या कि किसी की है वह माया,
कहते हैं सब लोग कि है वह मेरी छाया।

अगस्त, १९२४

आँख

कञ्ज-कलिका मंजु है पर चारु चंचलता कहाँ ?
मीन में, मृग-नयन में वैसी मनोहरता कहाँ ?
है खिलाड़ी खञ्जनों में वह अतुल सुषमा कहाँ ?
इस अनोखी आँख की है विश्व में उपमा कहाँ ?

इस मनोहर आँख का कैसे भला वर्णन करें ?
है यही जो चाहता इसका सदा दर्शन करें।
दिव्य शोभा-धाम की शोभा इसी में छा रही,
है इसी में विश्व की सुषमा समस्त समा रही।

है रँगी यह आँख जिसकी दिव्य छवि के रङ्ग में,
बह रहा संसार है उसकी अपूर्व तरङ्ग में।
है उसी की मंजुता इसमें सदा ही घूमती,
है उसी की ज्योति को यह मुग्ध होकर चूमती।

कान तक बढ़ कर न जाने आँख क्या है कह रही ?
है सभी के चित्त के मृदु भाव बतलाती यही।
चित्र अनुपम रूप का हरदम यही है खींचती,
है यही मुरझी हुई मन की कली को सींचती।

दूसरों के दुःख को यह देख है सकती नहीं,
प्रेम का उपहार देने में कभी थकती नहीं।
है महा करुणामयी अनुपम दया की खान है,
अश्रु-रूपी मोतियों का नित्य करती दान है।

आँख है सरसिज-कली-सी निज छटा में लीन-सी,
रूप-सागर में समाई है मनोहर मीन-सी।
क्षुब्ध रहती है सदा निज अश्रुजल की धार से,
पर न यह होती विरत है प्रेम के व्यापार से।

जब निकलती आँख से शुचि आँसुओं की धार है,
तब उमड़ता करुण-रस का पुण्य-पारावार है।
शीघ्र ही जो शान्त करता क्लान्त मन के ताप को,
और धोकर है बहा देता जगत के पाप को।

आँख हरदम जो हृदय के भाव करती व्यक्त है,
प्रकट करने में उसे भाषा नितान्त अशक्त है।
फिर भला ऐसी दशा में क्यों न हम चुप हो रहें,
यदि कहें भी, तो बताओ, क्या कहें, कैसे कहें ?

जुलाई, १६२५

विधि-विडम्बना

वही देश है और
वही अब भी है काशी;
वही पुनीत प्रयाग
वही मथुरा अघनाशी।
वही भूमि है और
वही हम भारतवासी;
किन्तु देखिए जहाँ
वहाँ छा रही उदासी।
हम उन कमलों-से हो रहे
है विकास जिनमें नहीं;
हम उन नक्षत्र-समान हैं
है प्रकाश जिनमें नहीं।

यद्यपि हम हैं वही
किन्तु वह नहीं भाव है;
न वह चाव है और
नहीं अब वह स्वभाव है।
न वह ताव रह गई
न वह अपना प्रभाव है;
जिसका पूछो यहाँ
उसी का अब अभाव है।
इस भव्य भारतोद्यान में
कुम्हलाये सब फूल हैं;
खो चुके सुरभि सुख-मूल हैं
रस-विहीन दुख-मूल हैं।

हृष्ट-पुष्ट अब कहाँ
हमारा सुगठित तन है?
तेजोमय द्युतिमान
मुकुर-सा कहाँ वदन है?
कहाँ हमारा सरल
विमल सुखमय जीवन है?
अमल-कमल-सा कहाँ
हमारा निर्मल मन है?
हम हुए अकिञ्चन हैं यहाँ
अब मणि-कञ्चन है कहाँ?
सब ओर झाड़-झंखाड़ है
वह नन्दन वन है कहाँ?

पूर्वोन्नति का समय
हुआ हमको सपना है;
क्या है अपना सिर्फ़
भाग्य फूटा अपना है।
हमें विलपना और
सदा भय से कँपना है;
तन-मन के अति तीव्र
ताप से बस तपना है।
इस तममय दिन में क्या रहा
सन्ध्या हो जाती न क्यों ?
हे भारत-जननी ! आज तू
वन्ध्या हो जाती न क्यों ?

बड़े-बड़े सब काम
विश्व के करनेवाले;
दुखी जनों के दुःख-
दर्द को हरनेवाले।
निर्भयता से समर-
सिन्धु में तरने वाले;
सदा धर्म के लिए
हर्ष से मरनेवाले।
होते थे ऐसे नर जहाँ
वही रुचिर यह देश है;
पर हाय ! आज हममें नहीं
गुण-गौरव का लेश है।

सबसे पहले ज्ञान-
ज्योति फैलानेवाले;
जग भर में निज कीर्त्ति-
केतु फहरानेवाले।
रिपुओं पर भी सदा
दया दिखलानेवाले;
मातृ-भूमि का मान
सदैव बढ़ानेवाले।
वे भारतवासी आज हैं
देते दिखलाई कहाँ?
अज्ञान-तिमिर की देखिए,
घोर-घटा छाई यहाँ।

दमयन्ती की यही
जन्म-वसुधा है प्यारी;
हुई रुक्मिणी यहीं
और गार्गी, गान्धारी।
जनक-सुता की कथा
विश्व-विश्रुत है न्यारी;
और कहाँ है हुई
जगत में ऐसी नारी?
पर आज अविद्या-मूर्ति-सी
हैं सब श्रीमतियाँ यहाँ;
री दृष्टि! अभागी देख ले
उनकी दुर्गतियाँ यहाँ।

भरे हुए हैं अतुल द्रव्य
जिसमें सुखकारी;
पैदा होती रुचिर
वस्तुएँ जिसमें सारी।
जो है लीलास्थली
प्रकृति की जग से न्यारी;
भरत-भूमि यह वही
रत्नगर्भा है प्यारी।
सन्तान उसी की आज हम
दीनों से भी दीन हैं;
गम्भीर अपार पयोधि में
परम तृषाकुल मीन हैं।

क्यों तू अपना शीश
हिमालय! नहीं नवाता?
क्यों तू गिर कर नहीं
हमारा नाम मिटाता?
अथवा क्यों तू नहीं
धरातल! है फट जाता?
क्यों तू हमें न शीघ्र
रसातल को पहुँचाता?
क्या उचित कलंकित है हमें
निज जीवन करना भला?
अपयशपूर्वक क्या है नहीं
जीने से मरना भला?

क्यों न हमारा पाप-पुञ्ज
सुर-सरि! तू हरती ?
पतित-पावनी नाम
न क्यों तू सार्थक करती ?
यमुने! क्यों तू मलिन
वेश में आज विचरती ?
कल-कल मिस क्यों सदा
सर्द आहें है भरती ?
यदि तार नहीं सकती हमें
तो मत कर सङ्कोच तू;
बस हमें डुबा कर शीघ्र ही
मिटा हृदय का सोच तू।

दुख ही दुख क्यों हमें
दे रहा नित्य विधाता ?
विपदाओं से पिण्ड
छूटने कभी न पाता।
है टूटता कदापि
नहीं झगड़ों का ताँता;
मद मत्सर मालिन्य
मोह का अन्त न आता।
रे दुष्ट दैव! क्यों कर रहा
वार बार तू वार है ?
क्यों नहीं हमारा शीघ्र ही
करता तू संहार है ?

दिसम्बर, १९२५

विचित्र विचार

अहो ! आज क्यों सभ्य-सभा में
हम असभ्य कहलाते हैं ?
कुछ न समझ पड़ता है क्यों हम
कहीं न आदर पाते हैं।
हमने मन में इसका कारण
यही एक ठहराया है;
हुआ मति-भ्रम है लोगों को,
सबमें मोह समाया है।

यद्यपि हम मन से मलीन हैं,
लीन पाप में रहते हैं;
पर अकुलीन नहीं, कुलीन ही
क्या न हमें सब कहते हैं?
जो काले उरवाले बादल
ओलों को बरसाते हैं;
कौन जानता नहीं कि वे भी
सदा जलद कहलाते हैं।

हाँ, यह सच है शेष न हममें
अब रह गई सचाई है;
पर क्या हमने सीख नहीं ली
अच्छी तरह झुठाई है?
अदालतों में यह हरदम ही
काम हमारे आती है;
झूठे को सच्चा, सच्चे को
झूठा कर दिखलाती है।

हुई हमारी हानि भला क्या
जो खो गई बड़ाई है?
उसकी अस्थिरता तो जग में
सबको ही दुखदायी है।

और एक के बदले हमने
अब दो चीज़ें पाई हैं;
क्या न खुटाई और छुटाई
हममें .खूब समाई है ?

हमें अशिक्षित समझ सभी जन
हँसी हमारी करते हैं;
अहो, हमारी कुलीनता पर
ध्यान नहीं वे धरते हैं।
कठिन परिश्रम करके विद्या
सभी लोग पढ़ लेते हैं;
पर कुलीनता किसी-किसी को
जगदीश्वर ही देते हैं।

गई सरलता और विमलता
किन्तु कुटिलता आई है;
खोई है सज्जनता हमने
पर दुर्जनता पाई है।
नहीं सभ्यता है अब हममें,
बस रह गई बुराई है;
रही जुन्हाई नहीं शेष है
किन्तु तम-घटा छाई है।

लुप्त हो गईं सभी हमारी
पहले की विद्यायें हैं;
किन्तु सीख ली अब कितनी ही
हमने नई कलायें हैं।
हमें खूब आई मक्कारी
बदकारी ऐयारी है;
चटुल चाटुकारी में हमको
हुई निपुणता भारी है।

विभव-हीन हो गये किन्तु हम
विभव-गर्व से अकड़े हैं;
घोड़ा गया, मगर हम उसको
पूँछ अभी तक पकड़े हैं।
अपने हाथ पैर हम रहते
स्वयं सदा ही जकड़े हैं;
हैं मनुष्य पर बने हुए हम
निरे काठ के लकड़े हैं।

भला पूर्व-पुरुषों की हमसे
तुलना हो सकती कैसे ?
रहती है संस्थिति जब जैसी
होते हैं नर तब तैसे।

उनकी और हमारी बातें
बिलकुल न्यारी-न्यारी हैं;
वे थे धीर वीर बलधारी
क्रूर कुटिल हम भारी हैं।

मरे वीरता प्राण-नाशिनी,
वह किसको सुखकारी है?
हमको अपनी कातरता ही
सबसे बढ़ कर प्यारी है।
क्या होती है हानि, अवज्ञा
जो सदैव हम सहते हैं?
सतत हमारे अतिशय प्यारे
प्राण बचे तो रहते हैं।

यद्यपि शक्तिमान लोगों से
हम मुँह सदा छिपाते हैं;
किन्तु दीन बल-हीन जनों को
हम भी ख़ूब सताते हैं।
हाँ, यह सच है हम लड़ने को
नहीं समर में जाते हैं;
पर अपने आश्रित लोगों पर
हम शूरता दिखाते हैं।

जीवन के दुर्दान्त समर में
नहीं विजय हम पाते हैं;
पर विशेष कौशल हम गृह के
कलहों में दिखलाते हैं।
क्या चिन्ता है जो न और सब
मान हमारा करते हैं?
यह क्या कम है जो हमसे सब
घरवाले तो डरते हैं?

यद्यपि अपने शौर्य आदि गुण
हमने सब खो डाले हैं;
पर तो भी क्या हम न जगत में
सबसे निपट निराले हैं?
गुण-विहीन होने पर कोई
क्या निज गौरव खोता है?
अखिल चराचर का स्वामी भी
निर्गुण ही तो होता है।

इससे क्या मतलब है कैसे
हम धन सदा कमाते हैं?
यही मान लो, हम औरों का
द्रव्य लूट कर लाते हैं।

पर क्या हम भी नहीं देश का
वैभव सदा बढ़ाते हैं ?
और साथ ही इस दुनिया में
सुख से मौज उड़ाते हैं।

कभी भूल से भी स्वदेश-हित
करते हैं हम त्याग नहीं;
यह भी सच है, हमें तनिक भी
उस पर है अनुराग नहीं।
पर हम भी अवश्य ही इतना
भला देश का करते हैं।
यद्यपि उसके लिए नहीं पर
सदा उसी में मरते हैं।

अप्रैल, १९२५

प्रयाग-विश्व-विद्यालय

बहतो तुममें है ज्ञान-सत्य-
गंगा-यमुना की विमल धार।
करती सन्तत तुममें निवास
है सरस्वती पावन उदार।
हे युक्त-प्रान्त के वर वैभव!
उपकृत तुमसे मानव-समाज।
हे तीर्थराज के गुरु-गौरव!
हो बने स्वयं तुम तीर्थराज।

रहता है सबके लिए नित्य
उन्मुक्त तुम्हारा दीर्घ द्वार।
आते हैं जो ले असद्भाव
जाते हैं वे ले सद्विचार।
मोहान्ध अज्ञ मानव-समाज
पाता है तुमसे दृष्टि-दान।
हो नित्य कराते शशि-समान
वसुधा को तुम पीयूष-पान।

छात्रों के प्राणाधार दिव्य
हैं तुमको प्राणाधार छात्र।
विद्वानों से सेवित सदैव
विद्वानों के सम्मान-पात्र।
है तनिक न तुममें पक्षपात
छू गया न तुमको भेद-भाव।
है प्रेम तुम्हारा सार्वभौम
तुम पूर्ण कर रहे हो अभाव।

हो विमल स्रोत तुम वह पवित्र
निकले जिससे राष्ट्रीय भाव।
हो तुम सदैव जग-जीवन पर
डाला करते अपना प्रभाव।

हो तुम वह वर गायक जिसने
गाया पहले था देश-राग।
हो तुम वह शिक्षक मानव ने
सीखा जिससे अनुराग-त्याग।

दी सींच सुधा ऐसी तुमने
मानवता ने पाया विकास।
इस भाँति जगाई ज्ञान-ज्योति
घर-घर में फैल गया प्रकाश।
गुरुवर्य! तुम्हारे प्राङ्गण में
अङ्कुरित हुआ था देश-प्रेम।
थी जगी भावना वह ललाम
पोषक जिसका है विश्व-क्षेम।

जकड़ा जिससे था नर-समाज
दी तुमने वह शृङ्खला तोड़।
सदियों का टूटा प्रेम-सूत्र
है तुमने फिर से दिया जोड़।
कर चुके बहुत-से तुम प्रदान
भारत को अनुपम मुकुट-रत्न।
शिक्षा देते हो तुम अमोल
है धन्य तुम्हारा शुभ प्रयत्न।

दिसम्बर, १९३७

स्वदेश

किसके लिए है लिया जन्म हमने पुनीत,
किसके दिये हैं हम सुख भोगते अशेष ?
किसको महान् मुददायिनी समुन्नति से,
रहता हमारे दुःख-क्लेश का नहीं है लेश ?
सफल मनोरथ हमारे करता है कौन,
कौन है हमारे लिए दिव्य-वेश परमेश ?
कौन है हमारा प्रेम-पात्र सबसे विशेष ?
उत्तर सभी का बस एकमात्र है स्वदेश।

अगस्त, १९२७

गृह-लक्ष्मी

गृह-लक्ष्मी हो तुम्हें सर्वदा
इसका समुचित ध्यान रहे।
ऐसा करो कि गेह तुम्हारा
स्वर्ग-सदन-उपमान रहे।
मर्य्यादा हो प्यारी तुमको,
कुल-गौरव का ज्ञान रहे।
इस प्रकार तुम रहो कि जग में
सदा तुम्हारा मान रहे।

अर्द्धाङ्गिनी कहाती हो तुम
वही तुम्हारा स्थान रहे।
सदा तुम्हारे उर में गुञ्जित
पति-प्रेम का गान रहे।
चाहे कुछ हो वेश तुम्हारा
किन्तु देश-अभिमान रहे।
सब कुछ जावे, किन्तु तुम्हारी
आन बची हर आन रहे।

कभी तुम्हारे उर में खोटे
भावों का न वितान रहे।
अच्छे और बुरे की तुमको
हरदम ही पहचान रहे।
दूर तुम्हारे भय से कम्पित
क्रूर कुटिल छलवान रहे।
नयन-बाण के सहित सर्वदा
प्रस्तुत भौंह-कमान रहे।

सदा तुम्हारा आनन सुख से
खिला सरोज-समान रहे।
कलित कौमुदी-सी अधरों पर
छाई मृदु मुसकान रहे।

सुधासिक्त हो वचन तुम्हारे,
उर में दया महान रहे।
करो सत्य का ही हठ हरदम,
अगर हठीली बान रहे।

पढ़ो-लिखो पर सदा तुम्हारा
घर ही क्षेत्र प्रधान रहे।
सभ्य बनो, पर जी से प्यारी
तुमको निज संतान रहे।
डरो नहीं, चाहे कैसा ही
विधि का विषम विधान रहे।
रहो सर्वदा दृढ़ सत्पथ पर,
रक्षक दया-निधान रहे।

सितम्बर, १६२५

गजगामिनी

सार्थक किया है निज मञ्जु नाम कामिनी ने,
बन कर प्रेममयी देश-हित-कामिनी ।
देख कर उसका विकास दिव्य ऊषा-तुल्य,
छिप गई मोह-अन्धकारमयी यामिनी ।
चल रही आगे जो सभी के भयहीन होके,
कह सकता है कौन उसे अनुगामिनी ?
दौड़ रही उन्नति के मार्ग में जो ख़ूब तेज़,
कवि-जन कैसे उसे कहें गजगामिनी ?

फ़रवरी, १६३६

स्वयंसेविका

भाग्य-हीन दीन दुखियों की स्वयंसेविका है,
होती हुई भी तू उर - देवी गृह-स्वामिनी।
बन गई आप ही तू निज हृदयेश्वरी है,
जग-हृदयेश्वर की तू है अनुगामिनी।
रागिनी नहीं है पर प्रेम-याग - यागिनी है,
मञ्जु मृदु भावना के लोक की है भामिनी।
होकर विरागिनी भी कर्म-अनुरागिनी है,
त्यागिनी है किन्तु तू है विश्व-क्षेम-कामिनी।

दीन-दुखियों के दुख-दैन्य की विदारिणी है,
और रोग-पीड़ितों की तू है रोग-हारिणी।
सह कर दुःख दूसरों को है बनाती सुखी,
सङ्कट - निवारिणी है सेवा - व्रत - धारिणी।
तू है अवलम्ब अवलम्ब-हीन मानवों का,
देश - हित - कारिणी है प्रेम की प्रसारिणी।
द्वार-द्वार घूम-घूम भीख माँगती है सदा,
पर तू भिखारिनी! है लोक - उपकारिणी।

अगस्त, १६३६

जीवन-संग्राम

यहाँ कहाँ विश्राम ?

ग्राम-ग्राम में धाम-धाम में
है जीवन - संग्राम।
जग से ही जीवन का जग में
रहता है संघर्ष।
शान्ति-स्रोत उर-सागर बनता
है अशान्ति का धाम।
कोई अति सुख से अचेत है
कोई दुख से त्रस्त।
यह धरती जुतती रहती है
सब दिन आठो याम।
रहें भले ही महासिन्धु ये
शान्त और गम्भीर।
लोल-लोल लहरें लहरा कर
रोती हैं अविराम।

अगस्त, १९३८

वर्षा

तप लें हम दो चार
रोज़ चाहे मनमाना;
पर दीपक-सा हमें
एक दिन है बुझ जाना।
ऐसा जग में किसे
विधाता ने उपजाया;
जिसका कुछ दिन बाद
अन्त में अन्त न आया?
जिस भीष्म ग्रीष्म से थी कल ही
संतापित अतिशय मही;
है आज उसी की विश्व में
स्मृति भी शेष नहीं रही।

ज्यों ही उधर निदाघ
चल बसा अति दुखदायी;
त्यों ही इधर अतीव
सुखद वर्षा-ऋतु आई।
तप की लू अब नहीं
आग-सी है बरसाती;
बहता शीतल सजल
समीरण है बरसाती।
मिट गया मही का तप-जनित
अब त्यों क्लेश अशेष है;
मिटता सु-राज्य में ज्यों सदा
उत्पीड़न निश्शेष है।

नभ में हैं घिर रहे
जलद अब काले-काले;
जल - रूपी पीयूष—
पुञ्ज बरसानेवाले।
वसुधा हिल-सी उठी
अभी उनके गर्जन से;
गूँज दिशायें गईं
सभी उनके गर्जन से।
है वृष्टि खूब होने लगी,
भूतल शीतल हो गया;
अब जिधर देखिए उधर ही
बस जल ही जल हो गया।

था जिस रवि ने व्यर्थ
    मही को ख़ूब तपाया;
जिसने सारे लता-
    द्रुमों को था झुलसाया।
था जिसने विकराल
    रूप अपना दिखलाया;
उसने निज मुख जलद-
    पटल में आज छिपाया।
जो औरों को संताप दे
    वृथा कमाता पाप है;
होता अवश्य पीछे उसे
    लज्जा-युत अनुताप है।

सन्तापित था हुआ
    विश्व रवि-कर-ज्वाला से;
पर आच्छादित सकल
    गगन है घन-माला से।
जनक - नन्दिनी हरी
    गई थी दशमुख-द्वारा;
पर बाँधा था गया
    वृथा रत्नाकर सारा।
यद्यपि अविवेकी मनुज ही
    करता पापाचार है;
पर समस्त जग व्यर्थ ही
    चखता कुफल अपार है।

नाच रहे हैं मोर
मोद-युत पक्ष उभारे;
मचा रहे हैं शोर
ज़ोर से दादुर सारे।
चपल चञ्चला चमक
चमक कर है छिप जाती;
जग में स्थिरता कहीं
नहीं है यह बतलाती।
द्युतिमय खद्योतों की रुचिर
पंक्ति बहुत लगती भली;
मानो नभ को तज कर यहाँ
शोभित है तारावली।

है कितनी उल्लसित
आज कृषकों की टोली!
घूम रहीं सानन्द
कृषक-वधुएं भी भोली।
पति के संग सहर्ष
नीर खेतों में भरतीं;
अपना सह - धर्मिणी
नाम सार्थक हैं करतीं।
कर रहे कृषक कितना कठिन
अथक परिश्रम देखिए;
अनमोल रत्न की राशि है
कृषि ही तो उनके लिए।

सलिल-पूर्ण हो गये
शुष्क सलिलाशय सारे;
धरणीधर, वन बाग
नई सुषमा हैं धारे।
दृग-सुखकर हर समय
हृदय को हरनेवाली;
आच्छादित कर रही
मही को है हरियाली।
जलमय खेतों में धान के
हरिताङ्कुर मन मोहते;
क्या प्रकृति वधू के मुकुर में
हरे रत्न हैं सोहते?

चातकगण है दृष्टि
आ रहा प्रमुदित मन में;
इधर - उधर सानन्द
कुरङ्ग विचरते वन में।
मुक्त हुए विकराल
ग्रीष्म के दुस्सह दुख से;
हरी - हरी नव घास
चर रहे हैं पशु सुख से।
उड़ रही बकाली गगन में
शोभामयी अपार है;
क्या वायु-विलोड़ित गगन में
घनीभूत जल-धार है?

झुलसाये थे गये
ग्रीष्म से जो द्रुम प्यारे;
हरे-भरे हो गये
आप ही अब वे सारे।
खिली हुई कमनीय
केतकी है इतराती;
फूली हुई कदम्ब-
लता है चित्त चुराती।
पर आक जवासे जल मरे
अहो! आप ही आप हैं;
ये दिवस विश्व-सुख-विभव के
इनके हित अभिशाप हैं।

सितम्बर, १६१४

बादल

गरजो, गरजो, गरजो बादल !
किन्तु देखना छूट न जावे
भय से वसुधा का नभ-अंचल ।
बरसो, बरसो, बरसो उत्पल !
किन्तु देखना टूट न जावें
कृषकों के कोमल आशा-दल ।

अबिसीनिया

रहने पाया नहीं शान्ति से
अबिसीनिया ! ललाम ।
अकस्मात् लुट गया अकारण
सब तेरा धन-धाम ।
भूल रोम ने अधःपतन के
अपने क्लेश अशेष ।
तुझे गिराया गौरव-गिरि से
कर छल-छद्म विशेष ।

सबके साथ सदा करता था
तू सच्चा व्यवहार।
फिर क्यों तुझ पर हुआ अचानक
ऐसा निठुर प्रहार?
करनी पड़ी तुझे भी पूरी
सबल शक्ति की साध।
तू था निर्बल यही एक था
बस तेरा अपराध।

हो कर ही बस रही अन्त में
बर्बरता की जीत।
काँप रही है निर्बल जनता
होकर अति भयभीत।
मौखिक समवेदना विश्व की
तनिक न आई काम।
सबल शत्रु ने शीघ्र कर दिया
तेरा काम तमाम।

करता रहा करुण स्वर से तू
नाहक़ ही फ़रियाद।
इस दुनिया में किस निर्बल को
कभी मिली है दाद?

बधिर कर रहा था कानों को
भीषण समर-निनाद।
कहाँ सुनाई पड़ सकता था
करुण अहिंसावाद।

देख कठोर सबल सत्ता का
बर्बर अत्याचार।
झेंप गई सभ्यता, मच गया
जग में हाहाकार।
सामूहिक-रक्षा-प्रयास का
पड़ा न तनिक प्रभाव।
पशुता निगल गई मानवता
न्याय दया सद्भाव।

तू रोता रह गया पर रुकी
नहीं शत्रु की चाल।
कभी आसुओं से बुझता है
समरानल विकराल?
था अशक्त पर तो भी तूने
पाला निज कर्त्तव्य।
नष्ट हो गया पर तूने कुछ
किया न काम अभव्य।

निर्बल होने पर भी तूने
सहा नहीं अपमान।
निज गौरव-रक्षा-हित तूने
किया अतुल बलिदान।
बर्बरता का नग्न नाच
देखता रहा संसार।
छोड़ सका मर्य्यादा अपनी
किन्तु न पारावार।

रहे घुमड़ते और गरजते
नभ में ही घनघोर।
दिया न समराङ्गण को जल से
बोर ओर से छोर।
पर करने के लिए शान्त
रिपुओं की तृषा अपार।
तेरे शूर सैनिकों ने दी
बहा रुधिर की धार।

तेरे सुख-वैभव-गौरव के
दिन हो गये व्यतीत।
स्वप्न-सदृश हो गया तुझे अब
तेरा सुखद अतीत।

क्या रह गया? खो गया तेरा
सम्मानित व्यक्तित्व।
विजयी की करुणा पर निर्भर
है तेरा अस्तित्व।

तुझे विजेता के चरणों पर
रखना है निज भाल।
तुझे बिताना है निज जीवन
नतमस्तक सब काल।
नहीं सहज हो भुला सकेगा
तू अपना अपमान।
घूँट-घूँट तुझको करना है
विस्मृति - मदिरा - पान।

अक्टूबर, १९३६

अशक्त

क्या लड़ें दुर्भाग्य से
हम हैं विकल उर-पीर से।
हैं बहाना चाहते
पर्वत नयन के नीर से।
उन करों में तनिक भी
किस भाँति हो क़ूवत भला?
रह गये सब काल जो
जकड़े हुए जञ्जीर से।

जन्म से ही आज तक
जो नित्य पिञ्जर-बद्ध है।
पूछते हो क्या विपिन-
सुख की कथा उस कीर से ?
है बदल सूरत गई,
वह बात सब जाती रही।
तुम मिलाते हो हमें
किस वक्त की तसवीर से ?

अप्रैल, १९२५

अधिकार से

रहते सदैव तलवार के भरोसे तुम,
फिर क्यों भला यों डरते हो तलवार से ?
क्यों न रहते हो तुम नित्य क्रूरता से दूर,
क्यों न सर्वदा हो काम लेते हो विचार से ?
क्यों न निज नाता तोड़ देते हो सदा के लिए,
अविचार अत्याचार और अनाचार से ?
न्याय-दया से क्यों नित्य रखते नहीं हो प्यार,
पूछना मुझे है बस यह अधिकार से ?

मई, १६२६

आँसू

बह रही शुचि आँसुओं की धार है,
क्या न बनता मोतियों का हार है ?
तुच्छ इसको मित्र ! मत मानो कभी,
क्या नहीं यह प्रेम का उपहार है ?

क्यों बहुत बेचैन आँखें हों नहीं,
हानि ऐसी क्या सही जाती कहीं ?
क्या न वे आँसू बहा कर रोज़ ही,
हैं हज़ारों मञ्जु मोती खो रहीं ?

मिट गया विकराल रोष विधान है,
छा गई मुख पर मधुर मुसकान है।
जो अभी थी रो रही वह हँस पड़ी,
आँसुओं में बह गया सब मान है।

देखनेवाले सभी बेहाल हैं,
अश्रु-सिञ्चित मञ्जु दोनों गाल हैं।
देख लो, आरक्त आँखें हो गईं,
खिल गये युग पद्म मानो लाल हैं।

हैं निकल कर आँख में वे छन गये,
और काजल में ढुलक कर सन गये।
लाल गालों की ललाई ले ज़रा,
क्या न आँसू हैं 'त्रिवेणी' बन गये ?

भोगते हैं दुःख हरदम जो कड़े,
हैं जिन्हें सब बात के लाले पड़े।
शान्ति-सुख से हीन जो अति दीन हैं,
आँसुओं के हैं धनी वे ही बड़े।

कुछ न डर है आप चाहे जो कहें,
किस तरह यह चोट दिल की हम सहें?
है कलेजे से लहू जब बह रहा,
क्यों नहीं तब आँख से आँसू बहें?

क्या कहें कुछ भी नहीं जाता कहा,
खो चुके हम पास में जो कुछ रहा।
धन हमारा सिर्फ़ आँसू रह गया,
किन्तु वह भी जा रहा है अब बहा।

क्या भला संसार में तुमने किया,
किसलिए यह जन्म तुमने है लिया?
आपदा में लीन दुर्विध दीन को,
जो नहीं दो बूँद आँसू भी दिया।

तुम उन्हें हरदम सताते ही रहे,
मौन रह सब दुख उन्होंने हैं सहे।
ज़ालिमो! देखो न बह जाओ कहीं,
हैं दृगों से दीन के आँसू बहे।

जनवरी, १६२५

व्यथा

मौन मौन री मौन व्यथा ।
छिपी हृदय में ही रहने दे
इस जीवन की करुण-कथा ।
अपने सुख में मस्त जगत को
कर न तनिक भी कभी दुखी ।
दुखिया का दुख क्या वह जाने
जो रहता है सदा सुखी ।

तू निवास करती है जिसमें
जाता है वह हृदय जला।
दृग-जल शीतल करे उसी को
क्यों बहता है वृथा भला ?
मत हो मोहित देख जगत के
सुख-वैभव की मंजु कली।
दीन-दुखी की हो कुटिया में
तू अभागिनी ! सदा पली।

सितम्बर, १९१७

सुमन

हो तुम कंटक-विद्ध सुमन ! पर
हँसते ही रहना होगा।
तुम्हें जगत में झंझानिल के
झोंकों को सहना होगा।
यदि तुम कहीं कूल के द्रुम से
सरिता में ही कूद पड़े।
तो फिर लोल-लोल लहरों के
साथ तुम्हें बहना होगा।

मार्च, १९३८

अपराध-हीन

नहीं कुछ भूल हुई, नहीं अपराध हुआ,
सारा मजा ज़िन्दगी का यों ही किरकिरा हुआ।
उर का प्रकाश ही प्रकाश कुछ देता उसे,
चारों ओर अंधकार से जो है घिरा हुआ।
बुद्धि ही अकेली फिरी उसकी फिराये नहीं,
रह गया भाग्य तो सदैव ही फिरा हुआ।
डरता नहीं है वह लोक के अनादरों से,
ईश्वर की दृष्टि में जो है नहीं गिरा हुआ।

जून, १६३६

हृदयोद्गार

देव ! तुम्हें मैं देख
आँसुओं में बहता हूँ ।
सुख का घट मैं सदा
दुःख-जल से भरता हूँ ।
मैं तुमसे इसलिए
नहीं कुछ भी कहता हूँ ।
यह न समझ लो कहीं
कि मैं दुख से डरता हूँ ।

क्यों प्रसन्न सब काल
चित्त में मैं रहता हूँ ?
दुख में भी कल्पना सदा
सुख की करता हूँ ।
व्यथा हृदय की नहीं
व्यर्थ ही मैं सहता हूँ ।
जीने के ही लिए
जगत में मैं मरता हूँ ।

जुलाई, १६३८

कोकिल

क्या सीखा तूने जीवन में ?
करता है तू वास निरन्तर मंजुल वंजुल लता-भवन में।
करता है विहार मधुवन में,
क्या सीखा तूने जीवन में ?
किसकी छवि अवलोक सुमन में, सुधा बहाई निर्जन वन में ?
भूल गया जग को तू मन में,
क्या सीखा तूने जीवन में ?

मतवाला

क्या गाता है मतवाला ?
भूल गया वे गीत कि जिनसे
गूँज गई थी मधुशाला ?
करती है आह्वान निरन्तर
अब भी तुझे सुरा-बाला।
उसे नहीं है ज्ञात कि तूने
निज मधु-पात्र तोड़ डाला।

आकर्पित क्या कर सकती है
उसको भी सुख को हाला ?
जिसके उर में धधक रही है
दुःख-हुताशन की ज्वाला।
मदिरालय तेरा जीवन है,
अन्तर्ज्योति दीप - माला।
हृदय-वेदना ही मदिरा है,
तेरा उर ही है प्याला।

अगस्त, १९३७

मतवाला

क्या गाता है मतवाला ?
भूल गया वे गीत कि जिनसे
गूँज गई थी मधुशाला ?
करती है आह्वान निरन्तर
अब भी तुझे सुरा-बाला।
उसे नहीं है ज्ञात कि तूने
निज मधु-पात्र तोड़ डाला।

आकर्षित क्या कर सकती है
उसको भी सुख की हाला ?
जिसके उर में धधक रही है
दुःख-हुताशन की ज्वाला।
मदिरालय तेरा जीवन है,
अन्तर्ज्योति दीप - माला।
हृदय-वेदना ही मदिरा है,
तेरा उर ही है प्याला।

अगस्त, १६३७

प्रकाश

होती है उपासना कदापि फलदायी नहीं,
यदि बुरी वासना छिपी है अभिलाष में।
शान्ति क्या है शांति यदि उर में अशांति रही,
सिद्धि क्या है सिद्धि किसी व्यर्थ के प्रयास में ?
हास भी सदैव करता है उपहास वहाँ,
दिखता जहाँ है चित्र नाश का विकाश में।
मुँद गईं आँखें जो निहार के प्रकाश तीव्र,
तो फिर रहा क्या भेद तम में, प्रकाश में ?

मई, १६३६

क्या

यह क्या तुमने देव किया ?
मेरे सुन्दर सुधा-पात्र में
लाकर गरल उड़ेल दिया।
पर जब पीने को तृष्णा से
मैंने कर में उसे लिया।
तब मुझसे वह पात्र छीन कर
तुमने सुख से उसे पिया।

जून, १९३८

खेल

मैं कितने ही खेल
जगत में खेल चुका हूँ।
अवनी के सुख-दुःख
बहुत-से झेल चुका हूँ।

एक बूँद के लिए
आज मैं तरस रहा हूँ।
भर-भर कर मधु-पात्र
अनेक उड़ेल चुका हूँ।
होकर गरिमागार
इसे तुम भूल न जाना।
निज कंधों से कभी
तुम्हें मैं ठेल चुका हूँ।

मई, १९३८

दुखमय संसार

कितना दुखमय आज हो गया
है अपना संसार ?
किन्तु न जाने क्यों उससे भी
मुझे हो गया प्यार ?

अब आकृष्ट नहीं करती है
मन को विश्व-विभूति।
होने लगी ज्ञात है कुछ-कुछ
मीठी दुख-अनुभूति।

छिपा वेदना में ही है निज
जीवन का उल्लास।
झिप जाते हैं नयन देख कर
जग का तीव्र प्रकाश।

दुख-दल से चोली दामन का
है मेरा सम्बन्ध।
चिंतायें लिखती रहती हैं
जीवन - पद्य - प्रबन्ध।

अप्रैल, १९३७

जीने की अभिलाषा

यत्न से छिपाये हम चिर काल से थे जिसे,
कह दिया उसे मूक वेदना की भाषा ने।
किस भाँति शान्ति हमें मिलती कदापि भला ?
लेने दिया चैन नहीं उर की पिपासा ने।
कुहकिनी आशा ने हमारा साथ छोड़ दिया,
पर अवलम्ब दिया आकर निराशा ने।
कैसा है बनाया हमें अजब तमाशा एक,
जीने की हमारी इस तुच्छ अभिलाषा ने !

जून, १९३६

मुसाफ़िर

मत घबरा तू अरे मुसाफ़िर
यह तो रैन बसेरा है।
रजनी के काले आँचल में
रहता छिपा सवेरा है।
मत डर, मत डर अरे मुसाफ़िर
ये बादल क्या कर लेंगे ?
अपने से ही पिघल-पिघल कर,
झुक-झुक कर पानी देंगे।

जुलाई, १६२६

मधु-मास

आ जा, आ जा ओ मधुमास !
वन-वन में उपवन-उपवन में
भर दे नव उल्लास।
दीन हीन पादप-वृन्दों में
कर दे विभव-विकास।
इन मुरझे सुन्दर सुमनों में
ला दे मञ्जुल हास।

कर दे, कर दे, सफल ललित
 लतिकाओं का अभिलाष।
भर दे, भर दे इन कोमल
 कलियों में मधुर विलास।
भटक रही है मारी-मारी
 मधुपावली उदास।
कर दे उसे प्रदान मधुर मधु,
 हर ले उर की प्यास।
ला दे, ला दे शीतल सुरभित
 सुखकर मलय-बतास।
कर दे एक साथ आनन्दित
 मही और आकाश।

मार्च, १६२६

आशा

आती तू किस लोक से
तेरा कहाँ निवास ?
क्या प्रभु की ही झलक है
तेरा दिव्य प्रकाश ?
तेरा दिव्य प्रकाश
तिमिर उर का हर लेता;
जादू-सा वह देवि !
मनुज पर है कर देता।
तुझे देखकर हृदय-कली
हरदम खिल जाती;
मानो अपने साथ
सफलता तू ले आती।

तेरे दर्शन-मात्र से
प्रमुदित होता चित्त;
लाती क्या तू स्वर्ग से
कोई अनुपम वित्त।
कोई अनुपम वित्त
हमें लाकर क्या देती?
कैसे उर में स्थान
देवि! तू है कर लेती?
जब दारुण दारिद्र्य
दुःख भी रहते घेरे;
तब भी परम प्रसन्न
उपासक रहते तेरे।

दिखलाती है विश्व को
कैसा रूप ललाम?
पर तू छलने से हुई
क्या न बहुत बदनाम?
क्या न बहुत बदनाम
जगत में तू है आशे?
कितने ही तू नित्य
दिखाती हमें तमाशे।
राजासन पर कभी
दीन को है बिठलाती;
कभी स्वर्ग की छटा
मही पर है दिखलाती।

छलती है तू लोक को
अद्भुत तेरा हाल;
फैलाती है जगत में
कैसा माया - जाल !
कैसा माया - जाल
बिछा कर चित्त फँसाती ?
तू मन-माना नाच
नरों को नित्य नचाती।
तेरे मुख से सुधा-
धार ही सदा निकलती;
तो भी मायाविनी !
मनुज को तू है छलती।

हो जाती उर-वासिनी
जब तू जीवन-मूल;
तब निज सब असमर्थता
नर जाता है भूल।
नर जाता है भूल,
हीनता अपनी सारी;
होता उसको ज्ञात
कि "मैं हूँ" अति बलधारी।
अहो ! न जाने कौन
जड़ी तू उसे पिलाती !
उसकी सारी शक्ति
सौगुनी-सी हो जाती।

जननी है उत्साह की
तथा धैर्य की धाय,
धरता तेरा ध्यान नर
जब होता निरुपाय।
जब होता निरुपाय
मनुज कोई बेचारा;
तू ही तब अवलम्ब
उसे देती है प्यारा।
है बस तू ही दुःख-
जलधि की जग में तरणी;
तू ही है, हे देवि!
शौर्य्य-साहस की जननी।

चाहे आशे! तू छले,
पर मनुष्य गतिहीन—
हो जाता तेरे बिना,
वारि बिना ज्यों मीन।
वारि बिना ज्यों मीन
तड़पता रह जाता है।
त्यों ही आशाहीन
मनुज भी घबराता है;
पाकर तेरी ज्योति
न क्यों वह भाग्य सराहे?
तेरा सतत निवास
न क्यों निज उर में चाहे?

जीता प्रेमी क्या कभी
होकर निपट निराश;
चूर-चूर होता न क्या
उसका चित्त उदास ?
उसका चित्त उदास
देवि ! तू ही विकसाती;
क्या तू कुछ संदेश
प्रिया का उसे सुनाती ?
वह प्रेमी चुपचाप
आँसुओं को है पीता;
बस तेरी ही दया-
दृष्टि से वह है जीता।

दुखमय शोक-समुद्र में
मनुज रहा जो डूब;
मरना निश्चय था किया
विपदाओं से ऊब।
विपदाओं से ऊब
हुआ विह्वल बेचारा;
तूने उसको देवि !
दिया तब तुरत सहारा।
उसका शङ्कित हृदय
हो गया फिर अति निर्भय।
सुखमय उसको ज्ञात
हुआ निज जीवन दुखमय।

होते विफल प्रयास हैं
जिनके बारंबार;
उन लोगों की, देवि ! बस
है तू ही आधार।
है तू ही आधार
और आराध्य उन्हें है;
तेरे बल से कठिन
कार्य भी साध्य उन्हें है।
हों कितने ही विघ्न
किन्तु वे धैर्य न खोते;
होकर सफल-प्रयत्न
अन्त में प्रमुदित होते।

लेती सुध बुध छीन है
विरह-व्यथा विकराल,
धीरज तज कर क्यों न हो
वियोगिनी बेहाल।
वियोगिनी बेहाल
कभी क्या जीवित रहती ?
कुलिश कठोराघात
कमलिनी कैसे सहती ?
आशे ! उससे बता
भला तू क्या कह देती ?
जो दुस्सह वेदना
विरह की वह सह लेती।

दुखकारी जिसका यहाँ
जीवन परम पवित्र;
अन्य लोक का तू उसे
दिखलाती सुख-चित्र।
दिखलाती सुख-चित्र
सुरपुरी के जीवन का
उसको तू विश्वास
दिलाती पुनर्मिलन का।
अहो! अन्यथा विकल
बाल-विधवा बेचारी;
सहती कैसे कठिन
क्लेश दारुण दुखकारी?

आती प्यारी सफलता
कभी न जिनके पास;
बार-बार वे छात्र भी
करते कठिन प्रयास।
करते कठिन प्रयास
सदा ही धीरज धारे;
किन्तु न होते पास
परीक्षा में बेचारे।
आशे! जाकर उन्हें
न जाने क्या समझाती?
उनके मन में नई
स्फूर्ति फिर से हो आती।

देती बूढ़े को भला
जाकर कौन सलाह?
लोक-लाज वह छोड़ कर
करता है निज व्याह।
करता है निज व्याह
तुझी से प्रेरित होकर;
अपना बुद्धि-विवेक,
ज्ञान-गौरव सब खोकर।
आशे! उसको मृत्यु-
भीति भी तू हर लेती;
कानों में क्या मन्त्र
फूँक तू उसके देती?

रोगी जीने से हुआ
जो सर्वथा निराश;
विकट मृत्यु की त्रास से
रहता सदा उदास।
रहता सदा उदास
क्लेश पाकर जो भारी;
दिन-दिन जिसका रोग
बढ़ रहा है भयकारी।
पाकर तेरी तनिक
झलक भी वह दुख भोगी;
हो जाता है परम
प्रफुल्लित जर्जर रोगी।

हीरों-से अपने तनय
खोकर प्राणाधार;
जो नर जग में समझते
अपना जीवन भार।
अपना जीवन भार
हुआ है जिनको दुख से;
जो सर्वथा निराश
हुए सन्तति के सुख से।
कहतो क्या तू उन
विषाद को तसवीरों से ?
लगते उनके नयन
चमकने फिर हीरों-से।

होता है निज देश पर
जिनका प्रेम अपार;
सुख से निज सर्वस्व जो
देते उस पर वार।
देते उस पर वार
मनुज जो जीवन अपना;
हो जाता जब भङ्ग
सभी उनका सुख-सपना।
बहता उनके हृदय-
धाम में तेरा सोता;
मन का सब परिताप
दूर तत्क्षण है होता।

जग-जीवन में ज्योति है
तू ही देवि ! अनन्य;
जीवन की अवलंबिनी,
है तू सचमुच धन्य।
है तू सचमुच धन्य
सभी को धीरज देती;
पल भर में सब ताप
हृदय का तू हर लेती।
हो जातीं जब विफल
सभी इच्छायें मन में;
तब भी तजती साथ
नहीं तू जग-जीवन में।

जनवरी, १६२४